महर्षि कृष्णद्वैपायन–वेदव्यास रचित

वेदान्त-दर्शन

पं० रामस्वरूपशर्म्मा कृत

भाषानुवाद–सहित.

प्रथम अध्यायका प्रथमपाद.

ॐ नमः परब्रह्मणे ॥*॥ जैसे अन्धकार और प्रकाश विरुद्ध स्वभाववाले हैं, अन्धकारमें प्रकाशपना नहीं रह सकता, और प्रकाशमें अन्धकारपना नहीं रहसकता, तैसे ही चैतन्यस्वभाव आत्मा और जड़स्वभाव बुद्धि-इन्द्रिय—देह आदि विषय परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं, इसकारण यद्यपि चैतन्यस्वरूप आत्मामें देह इन्द्रि-यादि विषयोंके धर्म मानना और देह इन्द्रियादि विषयों में आत्मबुद्धि रखना मिथ्या है तथापि आत्मामें देह इन्द्रियादिके धर्मोंको और देह इन्द्रियादिमें आत्माके धर्मोंको मानकर मिथ्या ज्ञानरूप अध्यासके कारण, यह शरीर आदि मैं ही हूँ और यह शरीर इन्द्रियादि मेरे हैं इसप्रकार संसारका स्वाभाविक व्यवहार होरहा है,

ऐसे मिथ्या ज्ञानरूप अध्यासको ही पण्डितजन अविद्या कहते हैं, इस अविद्याके कारण ही अनेकों जन्ममरणरूप अनर्थ होते हैं और यह अनर्थ तब दूर होते हैं कि-जब अद्वितीय आत्माके स्वरूपका ज्ञान होजाय तथा उस आत्मज्ञानको पानेके लिए ही सकल वेदान्तग्रन्थों का आरम्भ है और इसीलिए इस वेदान्तमीमांसा शास्त्र (वेदान्तदर्शन) का आरम्भ हुआ है, जिसका यह पहिला सूत्र है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

क्योंकि—"यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते"। जैसे यह कर्मानुसार प्राप्त हुए पदार्थ भोगकी अवधि पर नष्ट हो जाते हैं तैसे ही पुण्यके प्रभावसे प्राप्तहुए स्वर्गादि पदार्थ भी भोग-समाप्ति पर नहीं रहते हैं, इसप्रकार वेद भी अग्निहोत्रादि साधनोंको स्वर्गादि अनित्य फल देनेवाला बताता है इसलिए केवल इन साधनोंको ही पर्याप्त न मानकर, नित्य अनित्य वस्तुका विवेक, ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलोंको भोगनेमें वैराग्य, शम दम आदि साधन सम्पत्ति और जन्म मरणरूप संसार छूटजानेकी इच्छा-रूप मुमुक्षुता, इन चार साधनोंकी प्राप्तिके अनन्तर, परम पुरुषार्थ रूप नित्यफलदायक ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करे, जिससे कि—संसारकी बीजरूप अविद्या निःशेष नष्ट होजाती है उस ब्रह्मज्ञानको देनेवाली वेदान्तमीमांसा का ही यहाँसे आरम्भ करते हैं ॥ १ ॥

ऊपर सिद्ध हुआ कि-इस ग्रन्थमें ब्रह्मका विचार किया

जायगा, परन्तु वह ब्रह्म किन लक्षणोंवाला है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

अनेकों नामरूपोंसे प्रतीत होनेवाले, अनेकों कर्त्ता भोक्ताओंसे संयुक्त, जिसमें कर्मका फल भोगनेका देशकाल नियमित रहता है और जिसकी रचनाका मनसे चिन्तवन नहीं होसकता कि-कैसे रचागया होगा ऐसे इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान्से होते हैं वही ब्रह्म है ॥ २ ॥

अब ब्रह्मकी सर्वज्ञताको दृढ करके दिखाते हैं कि—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

अनेकों विद्याओंके उत्पत्तिस्थान, दीपककी समान सृष्टिके सकल पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले सर्वज्ञ समान महान् वेदशास्त्रके प्रकाशका जो कारण है, ऐसे सर्वज्ञगुणोंवाले शास्त्रका प्रकाश सर्वज्ञसे ही होसकता है, अन्यसे नहीं अथवा इस सूत्रका यह भी अभिप्राय है, कि–जगत्के जन्म आदिके कारण ब्रह्मको तर्क (अनुमान) के द्वारा नहीं जानाजासकता, उनका ज्ञान वेदांत वाक्योंके द्वारा ही होता है, क्योंकि—वह शास्त्र-योनि हैं अर्थात् केवल शास्त्रके द्वारा ही जानेजाते हैं ॥ ३ ॥

यहां 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' अर्थात्-जो कुछ शास्त्रप्रमाण है वह केवल उपासना का वर्णन करता है, जो मन्त्र क्रियार्थक नहीं हों तो उन में निरर्थक होनेका दोष आता है। इत्यादि पूर्वमीमांसा के कथनसे यह संशय होसकता है कि-जब सकल वेद,

क्रियाका ही वर्णन करते हैं तो ब्रह्म वेदवेद्य है या नहीं? जब वेदमें प्रायः कर्मकी ही विधि है तो फिर ब्रह्मको सर्व-वेदवेद्य कैसे कहाजासकता है यदि कहो कि-वेदमें तो कर्मके सिवाय अनेकों देवताओंका वर्णन आता है तो वह केवल यज्ञके अङ्गरूप देवताओंके विषयमें ही है? ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर उसका उत्तररूप सूत्र कहते हैं कि-

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलयके कारण ब्रह्मका बोध वेदशास्त्रसे ही होता है, क्यों कि-वेदका तात्पर्य विचारने पर वह ब्रह्ममें ही पर्यवसित होता है, वेदमें जो कर्मकी अधिक प्रशंसा है वह केवल जीवकी रुचि उत्पन्न करनेके लिए हैं ॥ ४ ॥

ऊपर ब्रह्मको जो जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण कहा, तहाँ प्रश्न होता है कि-सांख्यमतवाले अचेतन प्रकृतिको जगत्का कारण कहते हैं और काणाद जड़ परमाणुओंको जगत्का कारण कहते हुए ईश्वरके निमित्त-कारण होनेका अनुमान करते हैं, इत्यादि अनेकों मतों के होतेहुए केवल ब्रह्मको ही जगत्का कारण मानना रूप सिद्धान्त कहाँ रहा? इन शंकाओंको दूर करनेके लिये कहते हैं कि—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

सांख्यकी कल्पना की हुई जड़ प्रकृति जगत्की कारण वेदान्तमें नहीं मानी जासकती क्योंकि-वह अशब्द है अर्थात् उसके जगत्का कारण होनेमें वेदरूप शब्दप्रमाण नहीं है इसका कारण यह है कि-'तदैक्षत बहु स्यां प्रजा-

येय' इत्यादि वेदवाक्योंमें उसको ईक्षिता (द्रष्टा) कहा है, यह द्रष्टापन चेतनमें ही बनसकता है, अचेतन प्रकृति में नहीं बनसकता इसकारण जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण चेतनस्वरूप ब्रह्म ही है ॥ ५ ॥

यह जो कहा कि-अचेतन प्रकृति जगत्का कारण नहीं होसकती, यह ठीक नहीं है क्योंकि-अचेतनको चेतनवत् मानकर व्यवहार होताहुआ देखते हैं, जैसे कि-नदी कि दहलती हुई कराड़को देख कर लोग कहते हैं कि-अब किनारा गिरना चाहता है, इसप्रकार जैसे अचेतन किनारेमें चेतनकेसा व्यवहार मानाजाता है तैसे ही अचेतन भी प्रकृतिमें सृष्टिरचनाकालकी समीपता होने पर चेतनकी समान व्यवहार मानकर द्रष्टापन मानलिया जायगा, और तुम भी तो 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षंत' इन वेदवाक्योंमें तेज और जलमें औपचारिक द्रष्टापन मानते हो तैसे ही हम भी जड़प्रकृतिमें मानलेंगे, इस शंकाके निवारण करनेको कहते हैं कि-

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

अचेतन प्रकृतिमें तेज और जलकी समान गौण (औपचारिक) व्यवहार नहीं होसकता, क्योंकि-जहाँ तेज और जलमें द्रष्टापन कहा है उस छान्दोग्य उपनिषद्की श्रुतिमें जल, तेज, अन्नको देवता शब्द और आत्मशब्दसे कहा है अर्थात् जल आदिकी सृष्टिको कहकर उनमें जीवरूपसे आत्माका अनुप्रवेश होनेपर नाम रूपकी सृष्टि होती है और तब ही उनमें द्रष्टापन औपचारिक मानलिया है, तैसे ही अचेतन प्रकृतिमें द्रष्टापन वा आत्मशब्दका प्रयोग नहीं है ॥ ६ ॥

यहाँ शंका होती है कि-आत्माके भोग अपवर्गरूप सकल अर्थसाधक होनेसे अचेतन प्रकृतिमें आत्म शब्दका प्रयोग होसकता है, जैसे कि-राजा सकल कार्यसाधक भृत्यमें यह मेरा ही आत्मा है इसप्रकार आत्मशब्दका प्रयोग करता है और वही राजाके संधि विवाद आदि सकल कार्योंको कर डालता है, इसके अतिरिक्त एक ही आत्म-शब्दका चेतन और अचेतन दोनोंमें प्रयोग देखते हैं, जैसे कि भूतात्मा, इन्द्रियात्मा कहा जाता है, इस पर कहते हैं कि—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

अचेतन प्रकृतिके लिये आत्मशब्दका प्रयोग नहीं हो सकता, या यों कहिये कि आत्मशब्दसे अचेतन प्रकृति का ग्रहण नहीं होसकता, क्योंकि-छान्दोग्य उपनिषद्में 'स आत्मा' यहाँसे लेकर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यहाँ तक श्वेतकेतुको मोक्षका उपदेश दिया है, यदि हे श्वेतकेतु यह तूहीहै, इसमें तत् शब्दसे चेतन श्वेतकेतुको अचेतन प्रकृति का उपदेश दिया जाय तब तो चेतनको अचेतन होनेका उपदेश होकर बड़ा भारी अनर्थ होजायगा, क्योंकि शास्त्रको कोई अप्रमाण कह नहीं सकता और वह शास्त्र यदि अनजान मुमुक्षुको अचेतन अनात्माके चेतन होने का उपदेश करै तो वह जड़ प्रकृतिको ही आत्मा समझता रहेगा और उसको प्रकृतिसे पृथग्भूत आत्मस्वरूप का ज्ञान कभी होगा ही नहीं, किन्तु विपरीत ज्ञान हो कर वह दशा होगी कि—जैसे किसी दुष्टात्माने बड़े भारी वनमें पड़ेहुए अपने बान्धवोंके घरजानेकी इच्छा करनेवाले एक अन्धेसे कहा, कि-भाई ! तू यहाँ पड़ा २

दुःखित क्यों होरहा है ? वह अन्धा इस धैर्य देनेवाले शब्दको सुन उस पुरुषको भलामानुष मान कर कहने लगा, कि-मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ जो आप मुझको मिल गए, सो आप कृपाकर मुझको मेरे बान्धवोंके नगरमें पहुँचादें तो अच्छा हो, उस धोखेबाजने एक साँढको लाकर उसकी पूँछ इस अन्धेके हाथमें थमाकर कहा, कि-यह साँड तुमको पहुँचा देगा, तुम इसकी पूँछ न छोड़ना, उस अन्धेने इस दुष्टकी बातका विश्वास करके पूँछ न छोडी, तिसका यह अनर्थ परिणाम हुआ कि-उस साँड की लातोंसे घायल होकर बिचारा मूर्छित हो एक गढहे में जापड़ा, ऐसे ही जिसको चेतनस्वरूप आत्मपदार्थका उपदेश न होकर उलटी अचेतनमें आत्म—बुद्धि कराई जायगी तो मुक्ति होना तो दूर रहा उलटा वह अनर्थमय संसारचक्रमें ही पड़ता रहेगा । अतः यहाँ आत्मशब्दसे अचेतन प्रकृतिको नहीं लिया जासकता, किन्तु उससे सूत्रशब्दवाच्य वस्तुको ही लिया जायगा ॥ ७ ॥

अच्छा यदि ब्रह्मको ही जानना अभीष्ट है तथापि सूक्ष्म होनेके कारण श्वेतकेतुको प्रथम २ उसका ही बोध करा देना कठिन है, इसलिये ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थूल प्रकृति ही उस श्रुतिमें आत्मशब्दसे लीजाती है, जैसे कि-किसीको अतिसूक्ष्म अरुन्धतीका तारा दिखाना होता है, तो पहिले उसके समीपका कोई तारा अरुंधतीके नामसे दिखाकर अरुन्धतीका ज्ञान कराया जाता है, इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

हेयत्ववचनाच्च ॥ ८ ॥

यदि अचेतन प्रकृतिको ही आत्मशब्दसे लोगे और

"स आत्मा, तत्त्वमसि, इस श्रुतिमें भी उसका ही उपदेश मानोगे तो उपदेश पानेवाला अनात्मज्ञ होगा, परंतु उपदेश देनेवाला मुख्य चेतनस्वरूप आत्माका उपदेश देना चाहता है और अनात्मस्वरूप अचेतन प्रकृतिको त्यागने योग्य कहता है, जैसे किसी स्थूल तारेके द्वारा अरुन्धतीका बोध कराकर फिर स्थूल ताराको छुटवा देता है और उस अरुन्धतीका ही बोध कर देना है, इस लिये आत्मशब्दसे ब्रह्म ही का ग्रहण होता है प्रकृति का नहीं ॥ ८ ॥

प्रकृतिके आत्मशब्दवाच्य और जगत्का कारण न होनेमें और भी प्रमाण दिखाते हैं—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

जगत्के कारणके विचारका प्रारम्भ करके श्रुतिमें 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति' इत्यादि वाक्यमें कहा है कि-सोतेमें पुरुष का स्वपिति यह नाम होता है उस समय पुरुष सत्के साथ एकाकार होजाता है, यहाँ स्व शब्दसे चेतनको ही जगत् का कारण माना है, क्योंकि-स्व शब्दका यदि आत्मा अर्थ लोगे तब भी चेतन आत्मा अचेतन प्रधानके साथ एकाकार होकर उसमें लीन नहीं होसकता और स्वशब्दका आत्मीय (अपना) यह अर्थ लोगे तब भी आत्मीय अचेतनमें चेतनका लय नहीं होसकता जैसे मट्टीका घड़ा रचनाके समय अपनेसे सम्बन्ध रखने वाले जलका आत्मीय होकर भी अन्तको उस आत्मीय जलमें लीन नहीं होता है किन्तु आत्मस्वरूप मृत्तिकामें ही लीन होता है, इसके अतिरिक्त यह श्रुति भी है कि—'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'

चेतन आत्मामें सम्यक् लीन होकर बाहर भीतर कुछ नहीं जानता है । इस प्रमाणसे भी सुषुप्ति अवस्थामें चेतनमें ही लय होता है इसलिये सब चेतनोंका जिसमें लय होता है वह भी चेतन ही है अचेतन प्रकृति नहीं हो सकती, अतः सत् और आत्मशब्दसे वाच्य आत्मा ही जगत्का कारण है, अचेतन प्रकृति नहीं ॥ ९ ॥

प्रकृतिके जगत्का कारण न होनेमें और भी प्रमाण दिखाते हैं—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

जैसे सबके नेत्र रूपको ही ग्रहण करते हैं, रसको ग्रहण नहीं करते हैं, इसप्रकार सबके ही चक्षुओंकी समान गति है । तिसी प्रकार सबही वेदवाक्य चेतन ब्रह्मको ही जगत्का कारण मानते हैं, इसलिए सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है ॥ १० ॥

सर्वज्ञ ब्रह्मके जगत्का कारण होनेमें और भी प्रमाण दिखाते हैं—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

श्वेताश्वतरके मंत्रोपनिषद्में सर्वज्ञ ईश्वरका वर्णन करते हुए 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' 'स सर्ववित्कारणम्' इत्यादि वाक्योंमें सर्वज्ञ ब्रह्मको ही जगत्का कारण सुना है, इसलिये अचेतन प्रकृति वा और कोई जगत्का कारण नहीं है ॥ ११ ॥

यहाँ तक ग्यारह सूत्रोंमें सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण है तथा सब वेदांत चेतन कारणवादी हैं यह दिखाया । अब आगेके ग्रन्थ

की उत्थानिका कहते हैं कि-ब्रह्म दो स्वरूपवाला प्रतीत होता है, एक तो नामरूप आदि अनेकों उपाधियोंवाला और दूसरा सकल उपाधियोंसे रहित, इसकी साक्षी देने वाली अनेकों श्रुतियें हैं। इनमेंसे ब्रह्मके सोपाधिरुपमें उपास्य उपासकभाव आदि सब व्यवहार होते हैं, उन मेंसे कितनी ही ब्रह्मकी उपासना अभ्युदयार्थक हैं, कोई क्रमसे मुक्तिके लिये हैं। एक ही परमात्मा गुणविशेषों से उत्पन्न होकर भिन्न२ प्रकारसे उपास्य होता है और उन गुणोंके अनुसार ही उपासनाके फल मिलते हैं जिन के वेद स्मृति आदिमें अनेकों प्रमाण हैं, एक ही ब्रह्म निकृष्ट उपाधिके कारण उपासक और उत्कृष्ट उपाधिके कारण उपास्य होता है, इसमें कौन उपास्य वा कौन उपासक है इसका निर्णय करनेके निमित्त ही आगेके ग्रन्थका प्रारम्भ है—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

अब यह जिज्ञासा होसकती है कि-आनन्दमय पुरुष परब्रह्म है या सोपाधिकजीव, जब यह आत्मा शरीर वाला है, ऐसी देहके सम्बन्धकी प्रतीति होती है, तब आनन्दमय पुरुष जीव ही हैं, ऐसा कहनेमें कोई हानि नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष करके इस सूत्रसे उसका उत्तर देते हैं, कि—

यह पुरुष अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय है, ऐसा कहनेसे यद्यपि साधारणतया आनंद-मय शब्दसे जीव ही समझा जाता है, परन्तु सिद्धान्त में आनन्दमय पुरुषको ब्रह्म कहना होगा क्योंकि-श्रुतियों में जहाँ तहाँ वार २ परमात्माको ही आनन्दमय शब्दसे

कहा है। यद्यपि अन्नमय आदि दुःखमय कोशोंमें आनंदमय कोशका भी वर्णन है, तथापि उस आनन्दमयकी मुख्यतामें हानि कोई नहीं आती है, क्योंकि-वह इन सब कोशोंके अंतर्गत भी तो है, अतः अन्नमयादिके प्रकरणमें आनन्दमयका वर्णन होने पर भी उसको ब्रह्म ही कहना होगा। वरुणने ब्रह्मज्ञानके अभिलाषी अपने पुत्रसे कहा था, कि-आनन्दपुरुषको जानकर उसके साथ विहार कर सकता है, इत्यादि अनेकों प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म आनन्दमय है, अन्नमयादि नहीं है, परमात्माके शरीरत्वमें कुछ विरोध नहीं आता, श्रुतिमें कहा भी है 'यस्य पृथ्वी शरीरम्' जिसका पृथिवी शरीर है परन्तु यह शरीरीपना अन्नमयादि कोशोंकी परम्परासे है, जोकि-स्वाभावाविक नहीं होसकता अतः साक्षात् नहीं है, इस से आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १२ ॥

अब यह जिज्ञासा होसकती है, कि-आनन्दमय शब्द में मयट् प्रत्यय विकार अर्थमें हुआ है, इसलिये आनंदमय कहनेसे आनन्दका विकार समझा जायगा और ब्रह्म विकारी हो नहीं सकता, इसलिये आनन्दमय शब्दसे ब्रह्मको न लेकर जीवको लेना चाहिये, इस शंकाको दूर करनेके लिये। कहते हैं कि—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

मयट् प्रत्यय सर्वत्र विकार अर्थमें ही नहीं होता है, इसलिये यहाँ विकार अर्थमें नहीं है, किन्तु आधिक्य अर्थमें है, जिसमें आनन्दकी अधिकता है वह ही आनंदमय है, अतः आनन्दमय परब्रह्म ही होसकता है, जीव नहीं होसकता ॥ १३ ॥

आधिक्य अर्थमें मयट् होनेका कारण दिखाते हैं कि-

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

श्रुतिमें कहा है 'एष ह्येवानन्दयाति' यह परब्रह्म ही सबको आनन्दित करता है, इस प्रकार आनन्दका हेतु होनेसे अधिक आनन्दवाला है। देखो संसारमें जो सब से अधिक धन वाला होता है वही औरोंको धनी कर सकता है अतः यहाँ आधिक्य अर्थमें ही मयट् हुआ है और सबसे अधिक आनन्द वाला परमात्मा ही हो सकता है ॥ १४ ॥

परमात्माके आनन्दमय होनेमें और प्रमाण देते हैं-

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

वेदके मन्त्रोंमें जैसा वर्णन है, उसके द्वारा भी आनंद-मय शब्दसे अद्वितीय ब्रह्मका ही बोध होता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आनन्दमय ब्रह्म है, जीव नहीं है। यदि कहो कि-जैसे अन्नमयादिसे अन्य आत्मा है तैसेही आनन्दमयसे भी अन्य होगा, क्योंकि-अन्नमयादि चार कोशोंके साथ ही आनन्दमय कोशको भी गिना है, सो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि-भृगुवल्लीमें वारुणी ब्रह्मविद्याका लक्ष्य आनन्दमयको ही माना है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है कि-ईश्वर से अन्य संसारी जीव आनन्दमय शब्दसे नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रुतिमें आनन्दमयको सृष्टिसे प्रथम

जाता है और सृष्टिसे पूर्व परमात्मासे अन्य कोई हो नहीं सकता ॥ १६ ॥

भेदव्यपदेशात् ॥ १७ ॥

इसकारण संसारी जीव आनंदमय नहीं है कि—श्रुति ने आनंदमयका वर्णन करते समय जीव और ब्रह्म दोनों का भिन्न२ रूपसे वर्णन किया है अर्थात् ब्रह्मको साक्षात् रसरूप कहा है और जीव उस रसको पीकर नित्यानन्दमय होजाता है और उस आनन्दका सोता निरन्तर बहता रहता है ॥ १७ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

अब यह प्रश्न होसकता है, कि-सत्त्वगुण लघु है, प्रकाश उसका धर्म या स्वभाव है, ज्ञान-सुखस्वरूपमें परिणामको प्राप्त होता है, अतः सत्त्वगुण ही आनन्दका कारण है, और जड़ प्रकृतिमें यह गुण विद्यमान है, इस लिये ब्रह्मको आनन्दमय न मानकर प्रकृतिको आनन्दमय क्यों नहीं माना जाता ? इस शंकाके उत्तर रूपसे यह सूत्रमें कहा है अर्थात् श्रुतिमें कहा है, कि-'उस आनन्दमयने इच्छा करी कि-मैं विशाल ब्रह्माण्डरूपसे प्रकट होऊँ, सो इस प्रकारकी कामना जड़ प्रकृतिमें नहीं होसकती अतः अनुमानके आश्रयसे प्रकृतिको आनन्दमय कहना ठीक नहीं है, वास्तवमें ब्रह्मके संकल्प से ही इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है १८

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

श्रुतिमें कहा है कि-इस आनन्दमय पुरुषमें अनन्य भक्ति होनेसे जीवको मुक्तिकी प्राप्ति होती है और उस-

से विपरीत होने पर बन्धनादि विपत्तियें आपड़ती हैं, जडरूपा प्रकृतिमें अनन्य भक्ति होनेसे ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि-प्रकृतिके संगको छोड़ कर आत्मनिष्ठ होनेसे अभय होता है, अन्यथा नहीं इससे सिद्ध हुआ कि-एक परमात्मा ही आनन्दमय है, जीव वा प्रकृति आनन्दमय नहीं हैं ॥ १९ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है, कि-जो पुरुष आदित्य मण्डलमें दीखता है, जिसके कमल समान नेत्र हैं, जिस का उदिति नाम है और जिसको पाप स्पर्श नहीं करता है, इत्यादि। इसमें सन्देह होता है कि-क्या कोई जीव ही पुण्य ज्ञान आदिकी अधिकताके कारण उन्नतिको प्राप्त होकर आदित्यमण्डल और अक्षिमण्डलमें इस प्रकार स्थित है, या जीवसे भिन्न साक्षात् परमात्माका ही इस प्रकार पुरुषरूपसे वर्णन है? जीव भी तो पुण्य की और ज्ञानकी अधिकता होने पर सकल प्राणियोंकी अभिलाषाको पूरण करसकने हैं; फिर जीव उपासनाके योग्य क्यों नहीं होगा, इस सन्देहको दूर करनेके लिये कहते हैं कि-परमात्मा ही तहाँ विद्यमान है, जीव नहीं है। क्योंकि-इस प्रकरणमें उस अन्तर्वर्त्तीके कर्मरहित होना आदि धर्म कहे हैं, और जीव कर्मोंके वशीभूत है, देवताओंका लोकेश्वरत्व आदि ईश्वरोपासनाका फल है उनका स्वाभाविक नहीं है, उनकी फल देनेकी शक्ति भी ईश्वरके अधीन है, उपास्य होनेपर भी उनको श्रेष्ठ नहीं कहा है। देहके सम्बन्धकी प्रतीति होने पर भी परमात्माको

जीवशब्दसे नहीं कहा जासकता, क्योंकि-मैं इस महान् परमात्माको आदित्यकी समान ज्योतिर्मय,तमोनाशक, अप्राकृत दिव्य शरीर वाला जानता हूँ, इत्यादि, पुरुषसूक्तमें उनके अप्राकृत शरीरका वर्णन है ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

यह बात अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी कि-अंतर्यामी परमात्मा आदित्य आदि शरीरोंके अभिमानी जीवोंसे अन्य है, 'जो आदित्यमें स्थित होकर भी आदित्य से अन्य हैं और जिनको आदित्य नहीं जानता आदित्य जिनका शरीर है, जो आदित्यके भीतर स्थित होकर आदित्यको प्रेरणा करते हैं,वही अन्तर्यामी परमात्मा हैं वह ही अमृत हैं. इत्यादि बृहदारण्यककी श्रुतिमें विज्ञानात्मासे अन्तर्यामी परमात्माका भेद प्रतीत होता है और 'आदित्यके अन्तर्वर्ती परमात्मा है इत्यादि श्रुतियोंके साथ समानता भी प्रतीत होती है,इससे सिद्ध हुआ कि इसकारणमें परमात्माका ही उपदेश कियागया है२१

आकाशस्तल्लिंगात् ॥ २२ ॥

किसी समय राजा जैवलिसे एक ब्राह्मणने प्रश्न किया था, कि-पृथिवी आदि लोकोंका आधार क्या है, राजाने उत्तर दिया कि-आकाश ही सबका आधार है, आकाशसे ही सबकी उत्पत्ति हुई है और आकाश ही सबके प्रलयका स्थान है। इस वचनसे सन्देह होता है कि-यहाँ आकाश शब्दसे भूताकाश लिया जायगा या परब्रह्म ? आकाश शब्द भूताकाशका वाचक ही प्रसिद्ध है, उसमेंसे ही वायु आदिके क्रमसे सकलभूत सृष्टिका

होना सुना जाता है, अतः आकाश शब्दसे भूताकाश ही लिया जाना चाहिये, ऐसा पूर्वपक्ष करके उसके उत्तरमें कहते हैं, कि-यहां आकाश शब्दसे परब्रह्मका ग्रहण करना ही ठीक है क्योंकि-ब्रह्मके बिना केवल भूताकाशसे सकल भूतोंकी उत्पत्ति नहीं होसकती क्योंकि-वेदान्तकी यह मर्यादा है कि-सकल भूतोंकी उत्पत्ति परब्रह्मसे ही हुई है। श्रुतिने स्पष्टरूपसे सर्वशब्दके द्वारा आकाशसहित सकल भूतोंकी उत्पत्तिके कारणस्वरूप आकाशको कहा है इस दशामें यदि आकाश पदसे भूताकाश लिया जायगा तो आकाशका कारण आकाश है, इस प्रकार असङ्गति दोष आवेगा। तथा 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इय सब प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं। इस श्रुतिमें 'एव' पद आया है वह सकल भूतोंकी उत्पत्तिमें और किसीको कारण नहीं बताता, इससे भी आकाश शब्द से भूताकाश नहीं लिया जासकता, क्योंकि-घट आदि के कारण मृत्तिका आदि भी माने जाते हैं, यदि आकाश शब्द ब्रह्मवाचक होगा तो कोई दोष नहीं आसकता, क्योंकि-शक्तिमान् ब्रह्म ही सर्वस्वरूप है, अतः आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ होने पर ब्रह्मका ही बोधक है ॥२२॥

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

चाक्रायण ऋषिने प्रस्तोतासे प्रश्न किया था कि-जिस देवताने सामभक्तिस्वरूप प्रस्ताव पाया था, उनको बिना जाने किसी विषयमें यदि मुझसे प्रश्न करोगे तो तुम्हारा शिर धड़से अलग होकर गिर पड़ेगा। प्रस्तोताने बूझा कि-वह देवता कौन है ? चाक्रायणने कहा, कि-वह

देवता प्राण है, यहां यह प्रश्न होता है कि—इस प्राण शब्दसे मुखके भीतरी वायुको समझाजायगा या सर्वेश्वर परब्रह्मको। प्राणसे ही अग्नि आदि सकल भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, प्राणमें ही उन सब भूतोंका लय होता है और प्राण शब्द वायुमें ही रूढ़ है, अतः प्राण शब्दका वायु अर्थ करने में कौन हानि है? इस सन्देहको दूर करनेके निमित्त कहते हैं कि—यहां प्राण शब्दसे वायुका बोध नहीं होता है, किन्तु सर्वेश्वर परमात्माका बोध होता है क्योंकि-सर्वेश्वर परब्रह्मके सिवाय और कोई सकल भूतोंकी उत्पत्ति और प्राणका हेतु होसके यह सब प्रकार असम्भव है॥ २३॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात्॥ २४॥

श्रुतिमें लिखा है कि—ज्योतिर्मय पुरुष ही जीवके हृदयमें ध्यान करने योग्य है। यहां ज्योतिः-शब्दसे आदित्य-मण्डलादिके प्राकृत-ज्योतिः पदार्थको लेना चाहिए या परब्रह्मको? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि—यहां ज्योतिः शब्दसे प्रसिद्ध प्राकृत ज्योतिः नहीं, किन्तु परब्रह्मको समझना चाहिए, क्योंकि—श्रुतियोंमें जहां तहां सकल प्राकृतिक ज्योतिः पदार्थोंको ब्रह्मका अंश कहा है, जो सकल प्राणियोंके उत्पत्तिस्थान हैं वह अप्राकृतिक दिव्य स्वरूपमें स्थित रहते हैं, वह परमात्मा ही सकल तेजोंके आधार हैं॥ १४॥

छंदोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणानिगदात्तथा हि दर्शनम्॥ २५॥

"गायत्री वा इदं सर्वभूतं यदिदं किञ्च"। गायत्री ही सर्वस्वरूप है, और भूत देह पृथ्वी आदि सब उसकी ही विभूति हैं; परन्तु यह प्रशंसावाद है, सब संसार ब्रह्म की ही विभूति है ऐसा कहना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष करके इसके उत्तरमें कहते हैं कि—गायत्रीरूपसे अवतीर्ण हुए ब्रह्ममें मन लगाने वा ध्यान करनेका उपदेश देकर, इस श्रुतिमें सब संसारको ब्रह्मकी ही विभूति कहा है गायत्री मंत्रकी विभूति कहना प्रशंसावाद नहीं है यह कहा है ॥ २५ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

अब युक्ति दिखाते हैं कि—ऊपर कहेहुए श्रुतिवाक्यमें भूतादि सब पदार्थोंका अंशरूपसे वर्णन करके उसी प्रसङ्गसे आगे श्रुतिमें चतुष्पाद शब्दके द्वारा गायत्री मन्त्रका वर्णन नहीं किया है, किन्तु गायत्रीरूपसे स्वर्गमें स्थित ब्रह्मका ही वर्णन करा है, नहीं तो सकल भूत आदिकोंका छन्दके पाद होना असम्भव है ॥ २६ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नविरोधात् ॥ २७ ॥

पहिले—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इसके तीन पाद स्वर्ग अर्थात् दिव्य नाममें हैं, इसप्रकार सप्तम्यन्त पदके प्रयोग से स्वर्गधामको आधार बताया है और उससे आगे ही ही 'यदतः परो दिवः' अर्थात् स्वर्गसे श्रेष्ठ है,' इसप्रकार पञ्चम्यन्त पदके प्रयोगके द्वारा मर्यादारूपसे उपदेश किया है, इन दो प्रकारके उपदेशोंमेंसे किसको ठीक मानें ?

ऐसा पूर्वपक्ष करके कहते हैं कि–उपदेशकी रीतिमें भेद होने पर भी कोई दोष नहीं है क्योंकि–जैसे लोकाचारमें वृक्ष पर स्थित पक्षीको वृक्ष पर बैठा है, ऐसा भी कहते हैं और वृक्षके रहनेसे ऊपर बैठा है ऐसा भी कहते हैं इसीप्रकार ब्रह्म स्वर्गस्थ होकर भी स्वर्गसे पर है ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है ॥ २७ ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

एक समय दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन नामक राजा रण-कौशल और पुरुषार्थ दिखानेको अमरावतीमें पहुँचा, तहाँ इन्द्रने प्रसन्न होकर कहा कि—वर माँग, राजाने कहा—जिससे जीवका परमहित हो आप उसी तत्त्वका मुझको उपदेश दीजिये, इन्द्रने कहा–'मैं प्रज्ञात्मा प्राण स्वरूप और अमृतस्वरूप हूँ, मेरी ही उपासना करो। यहां यह प्रश्न होता है कि–प्राणशब्दसे कहा जानेवाला इन्द्र परमात्मा है वा जीवविशेष इसका उत्तर कहते हैं कि–यहां प्राणशब्दसे कहाहुआ इन्द्र जीवविशेष नहीं है, किन्तु परमात्मा है, क्यों कि-प्रज्ञात्मा, अमृत आदि विशेषण सर्वेश्वर परमात्माके ही होसकते हैं॥२८॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

इन्द्रने स्वयं ही अपनेको प्राणशब्दसे कहा है, अतः वह जीव ही प्रतीत होता है, ब्रह्म नहीं। यदि कहो कि–ऐसा ब्रह्मने ही कहा है, सो यह ठीक नहीं है क्योंकि–श्रुति में ब्रह्मको आवागमन, वाणी और मनसे रहित कहा है इसके सिवाय 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यती-

न्शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' मैंने त्वष्टाके पुत्र विश्वरूप नामक ब्राह्मणको मारा है, और वेदान्तमें विमुख यति-योंको जङ्गली कुत्तोंके अर्पण करदिया है । इत्यादि श्रुतियोंमें शरीर-सम्बन्धी धर्मोंका वर्णन है, जो कि—असङ्ग ब्रह्ममें हो ही नहीं सकते, इससे इन्द्र देवतारूप जीवविशेष ही प्रतीत होता है, इस प्रकारके पूर्वपक्ष का उत्तर कहते हैं कि—इस प्रकरणमें विशेषरूपसे अध्यात्म प्रकरणका ही उपदेश है, इसलिये इन्द्रने प्राण-शब्दसे जीवका उपदेश नहीं किया है, किन्तु परमात्मा का ही उपास्यरूपसे वर्णन किया है, मोक्षके उपायको ही परम हितकारी कार्य कहा जासकता है, जिसकी उपासनासे मोक्षकी प्राप्ति होती है, वह कभी प्राकृत प्राण या जीव नहीं होसकता, सब श्रुतियोंमें भी प्राण-शब्दसे परमात्माका ही उपदेश है, अतः यह सब धर्म परमात्मासे अन्यके नहीं होसकते ॥ २९ ॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् । ३० ।

अब यह शङ्का होती है कि-यदि ऐसा है तो इन्द्रने अपना उपदेश क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि—मेरी ही आराधना कर, ऐसा जो इन्द्ररूप जीवने ब्रह्मरूप से अपना उपदेश किया है, शास्त्र दृष्टिसे यह ठीक ही है क्योंकि—जैसे आत्मस्वरूपका दर्शन पाकर वामदेवने कहा कि—'मैं ही प्रजापति मनु और सूर्य था' इसप्रकार देवताओं में जो जागा वही तद्रूप होगया, तथा जो वृत्ति जिस रूपके वशीभूत होती है उसी रूपसे शास्त्रमें उस का उपदेश किया है, जसे प्राणके वशीभूत होनेसे यहाँ सकल इन्द्रियोंको श्रुतिमें प्राणरूपसे वर्णन किया है

तैसेही जीव भी ब्रह्मके वशीभूत है अतः इन्द्रने अपना ही उपास्य रूपसे उपदेश किया है ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

अब और यह शङ्का हुई, कि-इस प्रकरणमें अध्यात्म सम्बन्धका विस्तारके साथ उपदेश होनेपर भी, इस इन्द्र के कहे वाक्यको ब्रह्मपर कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-इसमें तो स्पष्ट रूपसे जीवका ही वर्णन है। 'जबतक प्राण हैं तबतक जीवन भी है, इत्यादि स्थानमें मुख्य प्राणको ही कहा है, इसीलिए जीव, प्राण और ब्रह्म इन तीनोंको उपास्य कहा है, ऐसा कहना ठीक है, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं, कि-पूर्वोक्त श्रुतिएं जीव और प्राणका वर्णन करके उनका उपास्य होना बताती हैं; यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि-ऐसा होनेसे तो उपासना भी प्राणधर्म, प्रज्ञाधर्म और ब्रह्मधर्मके अनुसार तीन प्रकारकी होनी चाहिए, और एक ही वाक्यमें तीन प्रकारकी उपासनाका वर्णन हो नहीं सकता, वाच्यमें भेद होने पर वाक्यका भेद भी अवश्य ही होना चाहिये। इसमें शंका यह होती है कि-जीव आदि लिङ्गोंके कारण ब्रह्मके धर्म क्या जीव आदिके हैं या वह सब स्वतन्त्र हैं अथवा जीव आदिके सकल लिङ्ग ब्रह्मपरक है। इससे पहिले प्राणाधिकरणमें पहिले पक्षका खण्डन होगया, उपासनाकी त्रिविधतासे दूसरा पक्ष भी दूषित होगया। अब तीसरे पक्षकी युक्ति यह है कि—जीवादि सब लिङ्ग ब्रह्मपरक हैं, क्योंकि—उनका

ब्रह्म परायणरूपसे ही सर्वत्र वर्णन है अतएव यह सिद्ध हुआ कि—इन्द्र, प्राण और प्रज्ञाशब्दसे ब्रह्मका ही वर्णन है ॥ ३१ ॥

प्रथम अध्यायका प्रथम पाद समाप्त ।

—— ० ——

* प्रथम अध्यायका द्वितीय पाद *

मनोमायाद्भिभिः शब्दैः स्वरूपं यस्य कीर्त्यते ।
हृदये स्फुरतु श्रीमान्ममासौ 'श्यामसुन्दरः ॥

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

उपनिषद्में कहा है, कि—मनोमय, प्राणमय, नियन्ता प्रकाश स्वरूप, सत्यसंकल्प, सर्वगत, सर्वभागसम्पन्न सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्यापी, वाणी और मनके अगोचर और अपने आदरको न चाहने वाला ईश्वर ही उपासनाके योग्य है । इसमें यह सन्देह होता है, कि—मनोमय आदि धर्मोंवाला पुरुष जीव है वा ब्रह्म ?—इसका उत्तर कहते हैं कि—इन सब वाक्योंसे ब्रह्मको ही समझना होगा, क्योंकि—सकल वेदांत शास्त्रमें प्रसिद्ध वस्तु का ही उपदेश है, प्रारम्भके सूत्रों शान्तिविधिको कहनेकी इच्छासे ब्रह्मका उल्लेख हुआ स्वविवक्षासे नहीं, यह ठीक है तथा जिनमें मनोमय आदि धर्मोंका उपदेश है, उन वाक्योंमें विशेषरूप ब्रह्मको ही समझना चाहिये । यहां क्रतु-शब्दसे उपासना और मनोमय शब्दसे शुद्ध मनके द्वारा ग्रहण करने योग्य ऐसा अर्थ लिया जाता है । ब्रह्म मनसे ग्रहण नहीं किया जासकता, ऐसा जतानेवाले जो वाक्य हैं, उनका यह अर्थ है कि-विषय

वासनाओंसे मलिन मनमें ब्रह्मकी स्फूर्ति नहीं होती है, ऐसा तात्पर्य न माननेसे श्रुतिके साथ विरोध होजायगा, क्योंकि—मन और प्राणके आधीन न होनेसे उसको श्रुतिने अमना और अप्राण कहा है। परन्तु जब श्रुतिमें मनोमयत्व आदिका उपदेश है तब मनोमयादि भी परमात्माको मानना होगा ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

मनोमय आदि शब्दोंसे जिन गुणोंको कहना चाहा है वह जीवके नहीं हैं, उनको परमात्माके गुण मानना होगा, क्योंकि—श्रुतियें उन सबका ब्रह्मके विषै ही वर्णन करती है, अतः यहाँ ब्रह्मके ही उपासना करने योग्य कहा है ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

जीव खद्योत (पटबीजने) की समान है, अतः मनोमयत्व आदि गुण परमात्माके सिवाय जीवके नहीं हो सकते, क्योंकि—सत्यसंकल्पता और पृथ्वीसे भी बड़ा होना यह बातें छोटेसे शरीरधारी जीवसे होना असंभव हैं ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

जीव कहता है, कि-मरणके अनन्तर इस लोकसे जाकर मनोमय पुरुषसे मिलूँगा' इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि-इन दोनोंमें परस्पर बड़ाभारी भेद है, क्योंकि-इस वाक्यमें जीवको कर्त्तारूपसे और मनोमय पुरुषको कर्मरूपसे वर्णन किया है ॥ ४ ॥

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

यह आत्मा मेरे हृदयमें स्थित है' इस वाक्यमें उपासक जीवके साथ षष्ठी विभक्ति लगाकर कहा है, और 'मनोमय पुरुष उपास्य है' इसमें मनोमयको प्रथमान्त कहा है, इससे स्पष्ट है कि-उपास्य उपासकमें भेद है ५

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिभी जीव और परमात्माके भेदको दिखाती है यथा—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।' हे अर्जुन ! सब जीवोंके हृदयमें ईश्वर स्थित है, जैसे यन्त्र पर चढ़ी पुतली घूमती है, तैसे ही ईश्वरकी मायासे सर्व जीव घूमते हैं, इससे भी जीवसे मनोमयत्वादि गुणवाला भिन्न सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

श्रुतिमें मनोमयको अणीय (अतिसूक्ष्म) होना कहा है, सो मनोमय शब्दसे जीवका ग्रहण करनेमें क्या हानि है ! ऐसा पूर्वपक्ष करके उसका खण्डन करते हैं, कि—हृदयके भीतर स्थित आत्माको यद्यपि अणीय और अल्प आश्रय वाला कहा है तथापि उससे जीवका ग्रहण नहीं होसकता, क्योंकि—अन्य श्रुतियोंमें उसको आकाश और पृथिवीकी समान महान् कहा है । अणीय और अल्पाश्रय रूपमें जो उसका वर्णन है वह महान् होनेपर-क्षुद्रभावसे उपासनाकी योग्यता दिखानेके लिये ही है, परमात्माका अणुत्व भी आकाशकी समान कहीं मुख्य और कहीं गौण मानाजाता है ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ८

यदि कहो कि—जब परमात्मा जीवकी समान शरीर के अन्तर्वर्ती है तो वह जीवकी समान सुख दुःख का भोगी भी होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि—परमात्मामें विशेषता होनेसे वह जीवकी समान भोग नहीं पाता है, कर्मके वशमें होना ही भोगका कारण है, परमात्मा स्वाधीन है, जीव कर्मके अधीन है, क्योंकि जीव मिथ्या ज्ञानके कारण कर्मोंमें बँधरहा है और परमात्मा सम्यक्ज्ञानवाला होनेके कारण कर्मबन्धनसे अलग रहता है, यह परमात्मामें जीवकी अपेक्षा विशेषता है ॥ ८ ॥

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

कठवल्लीमें कहा है, कि—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जगत् जिसका भोजन है, सब प्राणियोंको मारनेवाला काल जिसके भोजनकी चटनी है वा घृतादिरूप है, वह खानेवाला जिस शुद्ध चिन्मात्रमें अभेदभावसे है, वही शुद्ध ब्रह्म है, ऐसे ईश्वरके भी अधिष्ठानस्वरूपको कौन जानता है । अर्थात् चित्तशुद्धि आदि उपायके बिना कोई नहीं जान सकता, इसमें यह सन्देह होता है कि-अन्न और भोजनके द्योतक शब्दोंसे यहाँ अग्नि, जीवका बोध होगा या परमात्मा का ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि—श्रुतिमें जो भक्ष्य पदार्थ कहे हैं, उनका भोजन जीव वा अग्नि नहीं कर सकता, काल आदि वस्तुओंका भोक्ता एक चराचरका संहारकर्ता परमात्मा ही है ॥ ९ ॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

श्रुतिमें लिखा है कि-वह अणुसे भी अणु है, और स्मृतिमें भी कहा है कि-तुम चराचरका संहार करने वाले हो, इस सब प्रकरणवश कालादि वस्तुओंका भोक्ता एक जगत्का संहार करनेवाला परमात्मा ही सिद्ध होता है ॥ १० ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

कठवल्ली उपनिषद्में कहा है कि-पुण्यसे प्राप्त किये शरीररूप लोकमें हृदयरूपी गुहाके विषैं स्थित दो जने अवश्यम्भावी कर्मफलको भोगते हैं। यहाँ कर्मफल भोक्ता जीवके साथ स्थित दूसरेका वर्णन है वह दूसरा कौन है, क्या बुद्धि है, वा प्राण है, अथवा परमात्मा है, इसका उत्तर कहते हैं कि-यहाँ हृदयरूपी गुहामें स्थित दो जने जीवात्मा और प्राण नहीं हैं तथा बुद्धि और प्राण भी नहीं हैं किन्तु तहाँ जीवात्मा और परमात्मा को ही समझना होगा, क्योंकि-जो प्राणके साथ उत्पन्न हुआ है, वह ही देवतामयी अदिति है और वही ऐश्वर्य के साथ हृदयके भीतर प्रवेश करके स्थित है। इस श्रुति में जीवात्माका ही वर्णन है, जीवात्मा संसारकी वासनाओंमें बद्ध होनेके कारण छायारूपसे और परमात्मा संसारमुक्त होनेके कारण तेजःस्वरूपसे कहा गया है। जीवात्मा कर्मफलको भोगनेमें प्रयोज्य कर्त्ता है और परमात्मा प्रयोजक (प्रेरक) कर्त्ता है ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

इस प्रकरणमें जीवको मनन करनेवाला और परमात्माको मनन करने योग्य, विशेषण देकर कहा है, इस कारणसे भी हृदयरूप गुहामें जीवात्मा और परमात्मा यह दोनों ही हैं ॥ १२ ॥

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

'अक्षिमें जो यह पुरुष दीखता है वही आत्मा है, और वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही अभय देनेवाला है।' इस उपनिषद्के कथनसे यह जिज्ञासा होती है कि क्या यह पुरुष प्रतिबिम्ब है, या देवतास्वरूप है, या जीवात्मा है, अथवा परमात्मा है? इसीका उत्तर कहते हैं कि अक्षिके मध्यमें स्थित पुरुष प्रतिबिम्ब आदि कुछ नहीं है, वह परमात्मा है, क्योंकि—आत्मत्व, अमृतत्व, ब्रह्मत्व इत्यादि धर्म परमात्माके सिवाय और किसीमें नहीं होसकते ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है कि—'जो चक्षुमें स्थित है' इत्यादि स्थलमें और किसीके उद्देश्यसे नहीं लिखा है, इन स्थान नामरूप आदिके वर्णनसे भी सिद्ध होता है, कि—हृदयमें जीवके साथ परमात्मा ही स्थित है १४

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

श्रुतिमें यह कहा है कि—अपरिछिन्न सुखवाला अक्षिमें स्थित है. इसकारण अक्षि पुरुष ही परमात्मा है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

उपनिषद् सुनने और रहस्य जाननेवाले पुरुषको देव-यान गति प्राप्त होती है, ऐसा जो कहा है, अक्षिस्थ पुरुष को जाननेवालेकी भी वही गति कही है, इससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि-अक्षिमें स्थित पुरुष प्रतिबिम्ब आदि नहीं है, किन्तु वह परमात्मा ही है ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

अक्षिमें प्रतिबिम्ब आदि तीनों सदा नहीं रह सकते और अमृतत्व आदि धर्मोंके रहनेका सम्भव भी नहीं है अतः अक्षिगत पुरुष परमात्माके सिवाय प्रतिबिम्ब आदि नहीं है ॥ १७ ॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥

जो पृथिवीमें स्थित होकर भी उससे पृथक् है, पृथिवी जिसको जान नहीं सकती है, पृथिवी जिसका शरीर है; जो पृथिवीका नियन्ता है, वही अमृत है, वही अन्त-र्यामी आत्मा है, इस श्रुतिके कथनसे पृथिवीमें पृथिवी आदिका अन्तरस्थ और उसका नियामक है, ऐसा प्रतीत होता है; इसमें यह जिज्ञासा होती है कि-वह प्रधान है वा जीव है ? इस सन्देहके उत्तरमें कहते हैं कि-विभु-ज्ञानानन्दता, तद्रूपता, अमृतत्व तन्नियन्तृता और सब के अन्तर स्थितपना इत्यादि धर्मोंके कथनसे अधिदेव आदि वाक्योंमें जिस परमात्माका वर्णन किया है, उसको ही यहाँ पृथिवी आदिका अन्तर्यामी समझना चाहिये१८

न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

ऊपर कहे कारणसे, स्मृतिमें कहे हुए प्रधान आत्मा से अन्य प्रधानके द्रष्टापन आदि धर्म कभी हो ही नहीं

सकते जो अमना होकर भी मनन करनेवाला है; जो अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है जो अज्ञात होकर भी विज्ञाता है, अश्रुत होकर भी श्रोता है,जिससे भिन्न मननकर्त्ता द्रष्टा, विज्ञाता और श्रोता नहीं है, वही अमृतस्वरूप अन्तर्यामी आत्मा है ॥ १९ ॥

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते२०

यदि कहो कि–हम योगी पुरुषको अन्तर्यामी कहेंगे ? सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि–काण्व और माध्यन्दिन श्रुतिमें जीव और अंतर्यामीको भिन्न २ बताया है, वह भेद यह है कि—जीव नियम्य है और अंतर्यामी नियन्ता है, इसकारण वह ही परमात्मा है ॥ २० ॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

पराविद्याके द्वारा ही अक्षय पुरुषको जाना जासकता है: वह इन्द्रिय ज्ञानके अगोचर, नेत्र कर्ण आदिसे हीन, प्रभु, अगम्य, करचरणादि रहित, जातिरहित, वंशहीन, सदा एकरस, भूतयोनि और अविनाशी है । ज्ञानी पुरुष पराविद्याके द्वारा उसका दर्शन करते हैं । 'वह प्रकाश, स्वभाव, पुरुषाकार, अज,अमना,मूर्त्तिके संयोगसे रहित प्राणहीन, शुभ्र तथा जीव और प्रकृतिसे पर है ।' यह दो श्रुति हैं । यह प्रकृतिका वर्णन करती हैं, या पुरुष का प्रतिपादन करती हैं, अथवा परमात्माका कीर्त्तन करती हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं, कि–अदृश्यत्व आदि धर्म परमात्माके सिवाय और किसीके नहीं हो सकते, इसकारण पराविद्यासे वही जाने जाते हैं ॥२१॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ २२

ऊपरके सूत्रमें कही दोनों श्रुतियोंमें प्रकृति और पुरुष का वर्णन नहीं है, क्योंकि-पीछे कहे हुए सर्वज्ञ आदि विशेषण और दिव्य आदि पुरुषका भेद कह चुके हैं, अतः इन दोनों श्रुतियोंमें एक सर्वकारणरूप पुरुषोत्तम का ही वर्णन है ॥ २२ ॥

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

श्रुतिमें जो सकल भूतोंके उत्पत्तिस्थान पुरुषका रूप वर्णन किया है, वह रूप प्रकृति वा पुरुषका है ही नहीं, उसको परमात्माका ही रूप मानना होगा ॥ २३ ॥

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।२४।

उपनिषद्में लिखा है 'वैश्वानरका ध्यान करे'क्योंकि-वैश्वानर ही ब्रह्म है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि-वैश्वानर शब्दसे उदरमेंकी अग्निको समझें, देवताग्निको समझें, भूताग्निको समझें वा परमात्माको समझें? इस का उत्तर कहते हैं कि-साधारण रीतिसे वैश्वानर शब्द के द्वारा चारोंका ही बोध होता है, परन्तु यहाँ यह नहीं माना जासकता, क्योंकि-श्रुतिमें द्युमूर्धा इत्यादि विशेषण होनेसे वैश्वानर शब्दसे भगवान् विष्णुका ही बोध होगा, ऐसे ही आत्मा और ब्रह्मका मुख्य अर्थ श्रीहरि मानना होगा। वैश्वानर शब्दका यौगिक अर्थ भी विष्णु ही है। फल वर्णन करते हुए भी कहा है कि-जैसे अग्नि में रूई भस्म होती है, वैश्वानरकी उपासना करनेवालेके पाप भी तैसे ही भस्म होजाते हैं, अतः वैश्वानर शब्द का अर्थ विष्णु ही है ॥ २४ ॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

इसकारण भी वैश्वानर परमेश्वर ही है कि-आर्ष-ग्रन्थोंमें जहाँ तहाँ परमेश्वरके ही ऐसे स्वरूपका स्मरण किया है जैसे गीतामें लिखा है, कि-मैं वैश्वानररूपसे जीवोंके शरीरमें स्थित हूँ ॥ २५ ॥

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च-नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभ-वात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

वैश्वानर शब्दसे 'उदराग्नि' इस अर्थका भी बोध होता है, इस सन्देहको दूर करनेके लिये कहते हैं कि-वैश्वानर शब्दका अग्नि अर्थ नहीं होसकता, क्योंकि-उसके द्युमूर्धा आदि विशेषण नहीं होसकते, अतएव पुरुषके अन्तर्गत स्थिति होने पर भी वह पुरुषविध नहीं कहा सकता, इसलिये वैश्वानर शब्दके यह दोनों अर्थ नहीं होसकते, एक परमात्मा अर्थ ही होसकता है २६

अत एव न देवता भूतञ्च ॥ २७ ॥

इन ऊपर कहेहुए कारणोंसे ही वैश्वानर शब्दका देवताग्नि वा भूताग्नि अर्थ नहीं होसकता, अतः मन्त्रोंमें जहाँ २ उनके ऐसे विशेषण देखनेमें आवैं तहाँ केवल प्रशंसामात्र समझना चाहिये ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

जैमिनि ऋषिने कहा है कि-विश्वनेता होनेके कारण सबके कारणस्वरूप विष्णुबोधक वैश्वानर शब्दकी समान पहुँचाना आदि गुणोंके कारण अग्नि शब्द भी परमात्मा का ही वाचक है ॥ २८ ॥

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २६ ॥

अनेकों पुरुष परमात्माका प्रादेशमात्र रूप जान कर उसका ध्यान करते हैं, यह बात कैसे होसकती है, सो ही दिखाते हैं कि—जो प्रादेशमात्र रूपका ध्यान करते हैं, परमात्मा उनके समीप उसी रूपसे प्रकट होते हैं, यह आश्मरथ्य आचार्यका मत है ॥ २६ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्र हृदयकमलमें स्थित पुरुषका मन ही मन में ध्यान कियाजाता है, इसलिये परमात्मा भी प्रादेश-मात्र कहाता है, यह बादरि ऋषिका मत है ॥ ३० ॥

संपत्तेरितिजैमिनिस्तथाहि दर्शयति।३१।

परमात्माके प्रादेशमात्र रूपके वर्णनसे उनकी अचिंत्य शक्तिका प्रकाश होता है, ऐसा जैमिनि ऋषिने कहा है।

आमनन्ति चैवमस्मिन् ॥ ३२ ॥

परमात्माके ऐसे रूपका वर्णन अचिन्त्यशक्तिमत्ताको दिखाता है, आथर्वणिक आदि सब ही कहते हैं, पुराणादि में भी ऐसा ही वर्णन है, अतः सबके मतसे परमेश्वर ही वैश्वानर है यह बात सिद्ध होगई ॥ ३२ ॥

॥ प्रथम अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त ॥

* प्रथम अध्यायका तृतीय पाद *

विश्वं बिभर्ति निःस्वं यः कारुण्यादेव देवराट् ।
ममासौ परमानन्दो गोविन्दस्तनुतां रतिम् ॥

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

'स्वर्ग, चौदहभुवन, अन्तरिक्ष, प्रधान महदादि तत्त्व

मन और प्राण आदि सहित जीव, यह सब जिसमें स्थित हैं, वह आत्मा ही भवसागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय है, और सबको त्यागकर एक उस आत्माको ही जानना चाहिये।' उपनिषद्की इस श्रुतिमें संदेह होता है कि स्वर्ग आदिकी आधारभूत वस्तु क्या है, क्या वह प्रकृति है वा पुरुष है अथवा परमात्मा है? इस प्रश्नकी मीमांसा करते हैं कि-ब्रह्म ही स्वर्ग आदिका आधार है, क्योंकि-जैसे सेतु नदीके पार होनेका कारण होता है, तैसे ही भवसागरसे मुक्ति होनेका हेतु ब्रह्म है, प्रधान वा जीव मुक्तिका हेतु नहीं होसकता, क्योंकि—उसका वर्णन श्रुतिमें आत्म शब्दसे किया है ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

मुक्त पुरुषको प्राप्त होने योग्य ब्रह्म ही है; इसमें 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाण हैं, इस से भी स्वर्गाकाश आदिका आधार परमात्मा ही है ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

सांख्य आदिकी कल्पित प्रकृति स्वर्ग पृथिवी आदि का आधार नहीं होसकती, क्योंकि-उसमें कोई श्रुतिरूप शब्दप्रमाण नहीं है ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणधारी विज्ञानात्मा (जीव) चेतन है और आत्मशब्दसे कहा जाता है, तथापि उपाधिसे परिच्छिन्न ज्ञानवाला होनेके कारण सर्वज्ञ न होनेसे उसको भी स्वर्ग पृथिवी आदिका आश्रय होनेमें कोई श्रुति प्रमाण नहीं है ॥ ४ ॥

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इस एक आत्माको ही जानो, यहाँ आत्माको जानने योग्य और जीवको जानने वाला कहा है, इस प्रकार भेदप्रतीतिसे भी जीव स्वर्गादि का आधार नहीं होसकता ॥ ५ ॥

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

यह सब वर्णन परमात्माके ही प्रकरणमें है, इसकारण स्वर्गादिका आधार परमात्मा ही है ॥ ६ ॥

स्थित्यदनाभ्याञ्च ॥ ७ ॥

स्थिति और फलभोगसे भी स्वर्गादिका आधार परमात्मा ही सिद्ध होता है, क्योंकि-स्वर्गादिके आश्रयका वर्णन करते हुए 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इस श्रुति में एक जीवरूप पक्षीको कर्मफलका लोभी और दूसरेको फलभोग न करके भी दीप्तिमान् रूपसे शरीरके भीतर रहनेवाला कहा है। पहिले ही से यदि ब्रह्मको स्वर्गादि के आश्रयरूपसे न सिद्ध किया हो तो इन दोनोंमेंसे दीप्यमान भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता और ब्रह्मका वर्णन ही असंगत होजाता, अतः तहाँ ब्रह्मका ही वर्णन है ॥७॥

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

'नारदजीसे सनत्कुमारने कहा, कि-भूमा पुरुषको जाननेकी ही इच्छा करनी चाहिये, भूमा पुरुषका ज्ञान होजाने पर फिर और किसीकी स्फूर्त्ति नहीं होती है, सर्वत्र केवल वही झलकते हैं, भूमा पुरुषसे अन्यका ज्ञान होने पर अन्य विषयोंकी ही स्फूर्त्ति हुआ करती है' यहाँ सन्देह होता है कि-भूमा पुरुष प्राण है वा विष्णु?

इसके उत्तरमें कहते हैं कि-विष्णु ही भूमा पुरुष हैं, प्राणसहित जीवको भूमा नहीं कहा जासकता, क्योंकि-भूमा पुरुषको सकल सुखरूप और सर्वोपरि विराजमान कहा है, भगवान्के अनुग्रहसे जो मुक्तपुरुष हुए हैं उन को संप्रसाद कहते हैं,सम्प्रसादको प्राण सचिवसे अधिक गुणवाला कहा है,भूमा प्राणसे भी भिन्न है, भूमा प्राण होता तो उसके ऊर्ध्वरूपसे भूमाका उपदेश नहीं हो सकता। जब भूमा पुरुषका दर्शन होने पर उसमें मन लगानेवालेको अन्यका दर्शन नहीं होता, तब थोड़ा सा सुख देनेवाले सुषुप्ति साक्षी जीवको भूमा कहना प्रलाप-मात्र है,इससे सिद्ध हुआ कि-विष्णु ही भूमा पुरुष हैं ८

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

इस भूमा पुरुषके जो सकल धर्म कहे हैं वह परब्रह्म में ही होसकते हैं; अन्यत्र नहीं होसकते, भूमाका अमृतपना, किसी अन्यके आधार पर न होना, सबका आश्रय होना और सबका कारण होना इत्यादि धर्म श्रुतिमें प्रकट है ॥ ९ ॥

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है,कि-जिसमें आकाश ओत प्रोत है वह अक्षर ब्रह्म है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि-अक्षर शब्दका अर्थ प्रकृति है वा जीव है, अथवा ब्रह्म है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि-आकाश पर्यन्त सब भूतोंका आश्रय जब अक्षरको ही कहा है, तब अक्षर शब्दसे ब्रह्मके सिवाय और किसीका बोध नहीं होसकता ॥ १० ॥

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

यदि कहो कि-उससे सब विकारोंकी कारण प्रकृति का भोग्यभूत अचेतन पदार्थोंके आश्रयजीवका बोध होनेमें क्या हानि है ? तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि-आकाश पर्यन्त सकल पदार्थोंका आश्रय ब्रह्मके सिवाय और कोई नहीं होसकता, प्रकृति वा जीव संकल्पमात्र से जगत्को धारण कर सकें यह असम्भव है ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

बृहदारण्यकमें लिखा है कि-'यह अक्षर ही अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है और अश्रुत होकर भी श्रोता है' यहाँ वाक्य शेपके द्वारा अक्षर-पुरुषके ब्रह्मत्वके सिवाय और धर्म नहीं होसकते इसकारण निःसंदेह ब्रह्म ही अक्षर पुरुष है

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

उपनिषद्में लिखा है कि-'जो प्रणवाक्षरस्वरूप परब्रह्म का ध्यान करते हैं वह स्थूल सूक्ष्म शरीरसे मुक्त होजाते हैं, ब्रह्मलोक पाते हैं और वही परमपुरुषका दर्शन पा सकते हैं' यहाँ यह प्रश्न उठता है कि-वह ध्यान करने योग्य पुरुष चतुर्मुख ब्रह्मा है वा पुरुषोत्तम नारायण ? इसका उत्तर यह है कि-पुरुषोत्तम नारायण ही ध्यान करने योग्य हैं, यहाँ ब्रह्मलोक कहनेसे विष्णुलोक लिया जायगा, क्योंकि-ब्रह्मत्व-उनके सिवाय औरमें हो ही नहीं सकता ॥ १३ ॥

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

'इस ब्रह्मपुर हृदयकमलमें जो दहराकाश है, वही

ब्रह्मका निवास-स्थान है उसका ही अन्वेषण करना चाहिये।' ऐसे उपनिषद्के कथनमें यह सन्देह होता है कि-दहराकाश शब्दसे भूताकाश लिया जायगा या जीव लिया जायगा अथवा ब्रह्मको लिया जायगा? इसका उत्तर यह है कि-दहराकाश शब्दसे ब्रह्मका ही बोध होगा, क्योंकि-सर्वाधारता पापहारिता आदि धर्म भूताकाश वा जीवके नहीं होसकते ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च १५

गति और शब्दके द्वारा भी दहरपदसे परमेश्वरकाही बोध होगा, क्योंकि-'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति।' यह प्रजायें इस हृदयमें स्थित ब्रह्मस्वरूप दहरलोकमें सोते समय प्रतिदिन जाते हैं, और तद्रूपसे स्थित होती हैं परन्तु मिथ्याज्ञानसे आच्छादित होनेके कारण उसको जान नहीं सकती हैं, इसीसे फिर जाग उठती हैं। यहाँ दहरको ब्रह्मलोक शब्दसे कहकर उसके विषैं जो प्रजाशब्दसे जीवोंकी गति कही है, वह दहरकी ब्रह्मताको सिद्ध करती है, यद्यपि ब्रह्मलोक शब्दका अर्थ ब्रह्माका लोक ऐसा हो सकता है, परन्तु जब श्रुति कहती है कि-प्रतिदिन ब्रह्मलोकमें गमन होता है, सो ब्रह्माके लोकमें प्रतिदिन गमन हो नहीं सकता इसलिये यहाँ ब्रह्मलोकका अर्थ ब्रह्मरूपलोक होगा और वह दहरब्रह्म ही होसकता है १५

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।१६।

इस दहरमें विश्वको धारण करनेकी महिमा देखनेमें आती है, इससे भी दहर पदसे परमात्माका ही बोध होगा

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्ममें ही दहराकाशकी प्रसिद्धि देखनेमें आती है ॥ १७ ॥

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् १८

संप्रसाद जीव इस शरीरसे निकलकर परम ज्योतिः स्वरूपको प्राप्त होता है।' ऐसे स्थलमें सन्देह होता है कि–दहर वाक्यमें जब जीवका वर्णन है तब दहर शब्द का जीव अर्थ करनेमें क्या दोष है ? इसका उत्तर यह है कि-प्रारम्भमें कहे हुए पापहारिता आदि आठ प्रकार के गुण जीवमें होने असम्भव हैं। अतः दहर शब्दसे जीवका बोध नहीं होसकता ॥ १८ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

प्रजापतिरूप जीव ही दहरशब्दका अर्थ है,यह कहना भी ठीक नहीं है, प्रजापति वाक्यमें साधनाविर्भावित स्वरूपका वर्णन है इसलिये उसका नित्याविर्भूत स्वरूप नहीं होसकता और दहरको नित्याविर्भूतस्वरूप कहा है॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

उपनिषद्में दहर्णनकेरच मध्यमें जो कुछ जीवके लक्षण आगये हैं, वह परमात्मज्ञानके लिये हैं, जिनको पाकर जीव आठ गुणोंवाले स्वरूपमें पहुँचता है,वही परमात्माहै

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

हृदय स्मृतिका स्थान है, और श्रुति उसका आकार अल्प बताती है, उसके अनुसार ही स्मरण करनेवालेके भावकी अपेक्षासे विभु पुरुषका आविर्भाव भी प्रादेश-परिमाणका कहाता है ॥ २१ ॥

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

अनुकृतिके कारण जीव दहरसे भिन्न है अर्थात् नित्याविर्भूत अष्टगुणसम्पन्न दहरमें प्रजापति वाक्यमें कहेहुए साधनाविर्भावित अष्टगुण जीवका अनुकरण होता है, इसलिये जीवसे दहर भिन्न है ॥ २२ ॥

अपि स्मर्यते ॥ २३ ॥

श्रुतिमें भगवत्साधर्म्यके लक्षणोंसे मुक्त पुरुषका भेद स्पष्ट कहा है इसलिये दहरशब्दसे परमात्माके सिवाय जीवका बोध नहीं होता है ॥ २३ ॥

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

कठवल्लीमें लिखा है कि–'हृदयके भीतर जो अंगुष्ठमात्र पुरुष स्थित है, वही उपासनाके योग्य है' यहाँ यह प्रश्न उठता है कि–अंगुष्ठमात्र पुरुष जीव है या परमात्मा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि–परमात्मा ही अंगुष्ठमात्र पुरुष है, क्योंकि–जीव कर्मोंके अधीन है और श्रुति कहती है कि–अंगुष्ठमात्र पुरुषमें भूतभव्यनियामकतारूप ऐश्वर्य है, वह जीवमें नहीं होसकता ॥ २४ ॥

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारित्वात् ॥ २५ ॥

अंगुष्ठमात्र हृदयमें स्मरण किये जाते हुए विभुको जो अंगुष्ठमात्र स्वीकार किया है वह हृदयके परिमाणके कारण औपचारिक है, शास्त्र अविशेष रूपसे प्रवृत्त होकर भी मनुष्यके अधिकारमात्रको प्रकाशित करता है। उपासनाकी शक्ति न होने पर उपासक नहीं होसकता, इसलिये मनुष्यके शरीरका परिमाण कहकर उसके अनुरूप उपास्यका परिमाण कहना अनुचित नहीं है ॥ २५ ॥

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

बृहदारण्यकमें लिखा है कि-'जो २ देवता ब्रह्मकी उपासना करते हैं वही २ देवता उनको प्राप्त होते हैं' यहाँ यह प्रश्न उठता है कि-मनुष्योंकी समान क्या देवताओंका भी ब्रह्मोपासना करना असम्भव है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि-मनुष्योंके लोकोंमें रहनेवाले देवताओंके लिये ब्रह्मकी उपासना है, भगवान् बादरायणने इस बातको स्वीकार किया है और उपनिषदोंमें भी इसके अनेकों प्रमाण हैं ॥ २६ ॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्ते-र्दर्शनात् ॥ २७ ॥

देवताओंको विग्रहवाला मानने पर भी यह दोष नहीं आसकता, क्योंकि-असीम शक्तिमान् सौरभि आदि महर्षि जब अनेकों शरीरोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हुए हैं तब देवताओंका एक साथ अनेकों रूपोंमें प्रकट होना तथा उन रूपोंके विग्रह धारण करना असम्भव नहीं होसकता ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षा-नुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

यदि कहो कि-देवताओंके विग्रह माननेवालोंके कर्म में विरोध न हो, परन्तु वेदवाक्योंमें अवश्य विरोध आवेगा, इसका उत्तर यह है कि-यह बात भी नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा उस शङ्काका समाधान हो जाता है। वेदवाक्य नित्य आकृतिको कहते हैं और

उन सब वेदवाक्योंकी वाच्य नित्य आकृतिके स्मरण-मात्रसे ही सकल विग्रहोंकी उत्पत्ति हुई है ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

इसप्रकार नित्य-आकृतिवाचित्व और कर्त्ताकी स्मृति के साथ सृष्टि होनेके कारणसे वेदशब्दकी नित्यता सिद्ध होती है ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यवि-रोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

नैमित्तिक प्रलयके अन्तमें कर्त्ताके स्मरणपूर्वक सृष्टि होती है, परन्तु प्राकृतिक प्रलयके समय प्रकृतिकी शक्ति से संयुक्त परमेश्वरके सिवाय अन्य सब पदार्थ जब विलीन होजाते हैं उस समय ऐसी सृष्टि किस प्रकार होगी? इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहते हैं कि-महाप्रलयके अन्तमें जो नामरूप आदिकी सृष्टि होती है वह भी पहिली सृष्टिके ही समान है, अतएव उससे भी वेदवाक्योंका विरोध नहीं होता है ॥ ३० ॥

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ३१

अब यह प्रश्न उठता है, कि-ब्रह्मविद्यामें देवता आदि का अधिकार होसकता है, परन्तु जिस विद्यामें देवताओंकी ही उपासना कही है, उसमें उनका अधिकार है या नहीं. इसके उत्तरमें कहते हैं कि-जैमिनि ऋषिने देवताओंका अधिकार नहीं बताया है, क्योंकि-ऐसा हो नहीं सकता कि-उपासकत्व और उपास्यत्व दोनों धर्म एकके हों ॥ ३१ ॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

देवता केवल ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मके उपासक हैं यह बात श्रुति आदिमें कही है इसलिये ब्रह्मोपासनाके सिवाय और विद्यामें उनका अधिकार नहीं है ॥ ३२ ॥

भावात्तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

इन सब मधुविद्या आदिमें देवताओंका अधिकार है, बादरायणका भी यही मत है ॥ ३३ ॥

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

भगवान् रङ्क मुनिने जानश्रुति नामक शूद्र राजाको सम्वर्गविद्याका उपदेश दिया था, ऐसी प्रसिद्धि है, इस से यह जिज्ञासा होती है कि–वेदविद्यामें शूद्र जातिका अधिकार है या नहीं ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि–वेद विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है। यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद्में जानश्रुतिको शूद्र शब्दसे सम्बोधन किया है, परन्तु वह वास्तवमें शूद्र नहीं है, उनका जन्म पुत्रायण गोत्रमें हुआ है राजा शोकग्रस्त होगये थे इसी कारण को लेकर उस आख्यानमें यौगिकार्थानुसार इनको शूद्र शब्दसे सम्बोधन किया है ॥ ३४ ॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात् ३५

राजा जानश्रुति क्षत्रिय था, श्रुतिमें चैत्ररथबोधक जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, उनसे क्षत्रियपना सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

संसारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ३६

वेदमें जो शूद्रका अधिकार नहीं है, इसके अनेकों प्रमाण हैं, यह बात संस्कारोंसे जानी जाती है। आठवें वर्ष ब्राह्मणका, ग्यारहवें वर्ष क्षत्रियका और बारहवें वर्ष वैश्यका यज्ञोपवीत होना कहा है, इसके अनन्तर यह वेदका अध्ययन करसकते हैं,जब शूद्रका वह संस्कार होना ही नहीं लिखा तो उसका वेदमें अधिकार भी नहीं है

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

एक समय गौतम ऋषिने जाबालसे प्रश्न किया कि-तुम्हारा गोत्र क्या है ? जाबालने कहा कि-मैं नहीं जानता, इस सत्य बातको सुनकर गौतम प्रसन्न हुए, ब्राह्मण कभी झूठ नहीं बोलते, इस धारणासे गौतमने निश्चय किया कि-जाबाल शूद्र नहीं है ब्राह्मण शब्दसे उपलक्षित तीन वर्णोंका ही बोध होसकता है अन्यका नहीं, इसलिये शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं है ॥ ३७ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ॥ ३८ ॥

शूद्र वेदको न सुने,यह बात श्रुतिमें कही है,इस लिये वेदमें शूद्रका अधिकार नहीं होसकता और स्मृतिमें भी शूद्रको वेदके सुनने आदिका निषेध देखनेमें आता है३८

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

श्रुतिमें लिखा है कि-'वर्जन अर्थात् नियमके कर्त्ता वज्रसे सकल संसार उत्पन्न हुआ है।' यहाँ प्रश्न होता है कि वज्र शब्दसे क्या प्रसिद्ध वज्र अर्थ लिया जायगा? या ब्रह्म अर्थ लिया जायगा ? इसका उत्तर यह है कि-वज्र आदि सहित सकल जगत् जिससे काँपता है उस नियामक ब्रह्मको ही यहाँ वज्र शब्दका वाच्य माना जायगा ॥ ३९ ॥

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

एक ब्रह्मका ही प्रतिपादन करनेवाले ज्योति आदि शब्दोंसे ब्रह्मका ही प्रभाव विज्ञापित होता है, इससे वज्रशब्दसे ब्रह्म अर्थ ही सूचित होता है ॥ ४० ॥

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ४१

आकाश ही नामरूपका निर्वाह करनेवाला है, जो नामरूप आदिसे मुक्त है वह ही ब्रह्म है, वह ही आत्मा है, वह ही अमृत है इत्यादि श्रुतिमें कहे हुए आकाश शब्दसे जीवको समझा जाय या परमात्माको ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि—यहाँ आकाश शब्दसे परमात्माका ही बोध होता है, जीवका बोध नहीं होता । क्योंकि—अनेकों रूपोंकी निर्वाहकता, मुक्त अवस्थाके जीवसे भिन्न आकाशका साधन करती है, बद्ध जीवको ही कर्मफलके कारण नामरूपका भागी होना पड़ता है ॥ ४२ ॥

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि—मुक्तजीवको ब्रह्मसे भिन्न नहीं मानेंगे, वही आकाशशब्दवाच्य होजायगा इसमें क्या हानि है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि—मुक्त जीव शब्दका अर्थ ब्रह्म नहीं होसकता । क्योंकि—सुषुप्ति और उत्क्रांतिके स्थलमें जीवसे ब्रह्मका भेद स्पष्ट वर्णित है४२

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

यदि कहो कि—इसमें भी अभीष्टसिद्धि होना संभव नहीं है, क्योंकि—जीवब्रह्मका भेद केवल उपाधिके कारण है, तो उसका उत्तर यह है कि—श्रुतिमें ही 'आत्मा श्रेष्ठ

भूतोंका अधिपति और शासनकर्ता है' ऐसा कहा है इससे जीवके संसारी और ब्रह्मके असंसारीपनेका भेद स्पष्ट है, अतः यहाँ असंसारी सर्वेश्वर परमात्माका ही ग्रहण होगा ॥ ४३ ॥

॥ प्रथम अध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥

——०——

* प्रथम अध्यायका चतुर्थपाद *

ततः सांख्यघनोदीर्णा विदीर्णा यस्य योगणैः ।
तं सच्चिद्रूपणं कृष्णपूषणं समुपास्महे ॥

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शारीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च १

कठवल्ली उपनिषद्में लिखा है कि—अव्यक्त प्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, तिसमें सन्देह होता है कि—अव्यक्त शब्द से स्मृतिमें लिखे हुए स्वतन्त्र प्रधानका ग्रहण होगा या शरीरका ? इसका उत्तर यह है कि—(न व्यक्तं अव्यक्तम्) इस व्युत्पत्तिसे अनुमान कीहुई कपिलस्मृतिमें कही हुई प्रकृतिका बोध होता है, यह नहीं कहा जासकता, क्योंकि—यहां अव्यक्त शब्दसे रथके रूपमें माने हुए शरीरका ही बोध होता है ॥ १ ॥

सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

अब यह जिज्ञासा होती है कि—अव्यक्त शब्दसे व्यक्त शरीर क्यों कहा जाता है, इसका उत्तर यह है कि—अव्यक्त शब्दसे कारणरूपी सूक्ष्म शरीरका बोध होता

है, क्योंकि-सूक्ष्म शरीर अव्यक्त शब्दसे कहे जानेके योग्य है ॥ २ ॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

यदि कहो कि-सूक्ष्म शरीरको जब कार्यमें अनुप्रविष्ट होनेके कारण मानते हो तब ऐसे तो प्रधानको भी मानने में क्या हानि है, इसका उत्तर यह है कि-परमकारण ब्रह्मकी आधीनताके कारण प्रधान जड़ पदार्थ है, अतः उसके द्वारा स्वतन्त्रताके साथ कार्य नहीं होसकेता॥३॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

सांख्यवादी कहते हैं कि-प्रकृति और पुरुषके विवेक से जीवकी मुक्ति होती है, इसलिये प्रधान ज्ञेय पदार्थ है। कहीं २ विभूति विशेषकी प्राप्तिके लिये ऐसा कहा गया है, परन्तु यहाँ अव्यक्तको ज्ञेय नहीं कहा है, इस लिये भी अव्यक्त शब्दसे यहाँ प्रकृति नहीं लीजासकती है

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

यदि कहो कि-हम अव्यक्त प्रधानको ज्ञेय न मानेंगे? इसका उत्तर यह है कि तुम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि-इस प्रकरणमें प्राज्ञ परमात्माका ही वर्णन है ५

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

कठवल्ली उपनिषद्में पितृप्रसाद और स्वर्ग प्राप्तिका कारण, अग्निविद्या और आत्मविद्या इन तीनोंका ज्ञेय रूपसे वर्णन है। इन तीनके विषयमें ही प्रश्न हुआ है और किसीके विषयमें नहीं हुआ है,इसलिये प्रधान ज्ञेय नहीं होसकता ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥ ७ ॥

'बुद्धिसे महान् श्रेष्ठ है' यहाँ आत्मशब्दके साथ एकार्थता होनेसे जैसे महत् शब्दके द्वारा स्मृतिमें कहेहुए महत्तत्वका ग्रहण नहीं होता है तैसे ही आत्मासे श्रेष्ठता के कथनसे अव्यक्त शब्दसे भी प्रधानका बोध नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

त्रिगुणात्मिका अजा मायाको अपनी जानकर जीव उसमेंके सुख दुःखको भोगता है ।' इत्यादि उपनिषद्के वचनोंको पढनेसे यह सन्देह होता है कि—अजा शब्दसे स्मृतिमें कही हुई प्रकृति लीजाती है या वेदोक्त ब्रह्मात्मिका शक्ति लीजाती है ? इसका उत्तर यह है कि—यहाँ स्मृतिमें कही हुई प्रकृति नहीं लीजाती है, क्योंकि जन्मरहितको अजा कहते हैं, इस पदार्थसे स्मृतिकी कही हुई प्रकृतिका बोध करानेवाला कोई हेतु नहीं है, वृहदारण्यकमें चमस पदसे मध्यमें गढा पड़ेहुए यज्ञमेंके भोजनपात्रका ही बोध होता है, किसी विशेष चमसका बोध नहीं होता है, तैसे ही यहाँ अजा पदसे स्मृतिमें कही हुई प्रकृतिका बोध नहीं होता है ॥ ८ ॥

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ९

ज्योतिःशब्दसे श्रुतिमें कहे हुए ज्योतिःपदार्थके भी प्रकाशक ब्रह्मका बोध होता है। उस ज्योतिःशब्दका उपक्रम होकर प्रयोग कियेहुए अजाशब्दसे ब्रह्मका ही बोध होता है ॥ ९ ॥

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः १०

यदि कहो कि-ईश्वरसे उत्पन्न हुई प्रकृतिका अजा (अजन्मा) होना और अजा होकर भी आकार तथा उसका ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मसे उत्पन्न होना, कैसे संभव होसकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि-यह संभव है, क्योंकि-तमः शक्तियुक्त ब्रह्मसे प्रधानकी उत्पत्ति है, परमेश्वरकी तमःशब्दवाच्या अतिसूक्ष्मा नित्या शक्ति विद्यमान है, जैसे आदित्यके कारणावस्थामें एकीभूत रूपमें और कार्यावस्थामें वसु आदि देवताओंके भोग्य मधुरूपमें तथा उदयास्तमय आदिरूपमें कल्पित होने पर भी कोई विरोध नहीं होता है तिसी प्रकार यहाँ भी विरोध नहीं है ॥ १० ॥

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च

बृहदारण्यकमें लिखा है कि-'जिसमें पञ्चपञ्चजन और आकाश स्थित है वही आत्मा है।' यहाँ यह प्रश्न उठता है कि-क्या पञ्चपञ्च शब्दसे पच्चीस और जन शब्दसे तत्त्व लिये जायँगे या पंच शब्दसे पाँच और पंचजन शब्द से किसीका नाम समझना होगा? इसका उत्तर यह है कि-इससे साङ्ख्यमें कहे हुए पच्चीस तत्त्वोंका ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि-तत्त्व अनेक हैं, क्योंकि-अनेक प्राणियों में अनुगत धर्म न होनेसे एक २ तत्त्व पच्चीस हैं, यह अर्थ भी नहीं होसकता और ऐसा अर्थ न करने पर भी पच्चीस तत्त्व सिद्ध नहीं होते, विशेष कर आत्मा और आकाशका अलग नाम होनेसे सत्ताईस तत्त्व हुए जाते हैं, यहाँ पंचजन शब्दको सप्तर्षि शब्दकी समान संज्ञा-वाचक मानना होगा ॥ ११ ॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

'प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रवणका श्रवण, अन्नका अन्न, मनका मन, इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार पञ्चजन शब्दसे प्राणादि पांच वायुका बोध होता है ॥ १२ ॥

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

यदि कहो कि-ऐसा अर्थ तो माध्यन्दिन शाखावालोंके यहाँ ही ठीक है अन्न शब्दके न होनेसे कण्वशाखा वालोंके यहां ठीक नहीं है, इस पूर्वपक्षका उत्तर देते हैं कि—काण्वोंके यहां अन्न शब्दके न होने पर भी ज्योतिःशब्दसे पंच संख्या पूर्ण होती है ॥ १३ ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

"इस आत्मासे ही उत्पत्ति हुई है, वेदान्तमें ऐसे अनेकों वचन हैं" इसलिये आत्मा ही जगत्का कारण है, ब्रह्मको विश्वका कारण नहीं कहाजासकता, इस शङ्काको दूर करनेके लिऐ कहते हैं कि-निःसन्देह ब्रह्म ही जगत्का कारण है, क्योंकि-'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रमें जैसे सर्वज्ञत्व, सत्यसङ्कल्पत्व आदि गुणोंवाले ब्रह्मको आकाश आदिका कारण कहा है ऐसे सब ही वेदान्तने तैसे गुणोंवाले ब्रह्मको आकाश आदिके कारण रूपसे वर्णन किया है ॥ १४ ॥

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

'सोऽकामयत' 'उन्होंने कामनाकी यह असत् है, और आदित्य ब्रह्म है इत्यादि स्थलमें ब्रह्मका आकर्षण होने

से वह वाक्य ब्रह्मपर ही लगाए जाते हैं, अतएव निःसन्देह एक ब्रह्म ही जगत्का हेतु है ॥ १५ ॥

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

'जो सकल पुरुषोंके कर्त्ता हैं और यह सब जिनका कर्म है उनको ही जानना चाहिए।" यहां सन्देह होता है कि-प्रकृतिके अध्यक्ष शास्त्रोक्त भोक्ता जीवको ही जानने योग्य कहा है या सर्वेश्वर विष्णुको! इसका उत्तर यह है कि-यहां शास्त्रोक्त क्षुद्र क्षेत्रज्ञका उपदेश नहीं है किन्तु वेदान्तैकवेद्य सर्वेश्वर का वर्णन है, क्योंकि-इस शब्दके साथी कर्मशब्दसे चित्जड़ात्मक जगत् प्रपञ्चका बोध होकर उसके कर्त्ता ईश्वरका भी बोध होता है, इसकारण वही सब जगत्का कारण है, और उसको ही जानना चाहिए ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चैतद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

यदि कहो कि-मुख्य प्राण और जीवके लिंग दर्शनसे इन दोनोंमेंसे ही एकका ग्रहण होगा? तो इस शंका को दूर करनेके लिए कहते हैं कि—यहां मुख्य प्राण लिङ्ग आदिके होतेहुए भी जीव आदिका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि-इससे पहिले ही उन लिङ्गों (लक्षणों) की व्याख्या ब्रह्मपरक सिद्ध होचुकी है ॥ १७ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

यदि कहो कि-उक्त शब्दके साथ युक्त कर्मशब्द भी

ब्रह्ममें प्रसिद्ध प्राण-सन्दर्भमेंसे इस सन्दर्भकी ब्रह्म-परक व्याख्या करने परभी जीवका वर्णन होनेसे उसको ब्रह्मपरक कैसे कहा जासकता है? प्रश्न और व्याख्यानसे भी जीव शब्दके द्वारा ब्रह्मका ग्रहण नहीं हो सकता, इस शङ्का को दूर करनेके लिए कहते हैं कि—जैमिनिने कहा कि—ब्रह्मका बोध होनेके लिए ही जीव का कीर्त्तन है क्योंकि—प्रश्न और व्याख्यानसे भी जीव का ही बोध होता है॥ १८॥

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

याज्ञवल्क्य ऋषिने अपनी स्त्रीसे कहा था, कि-'आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए।' यहां सन्देह होता है कि-जिसका दर्शन आदि करना चाहिये वह जीवात्मा है, या परमात्मा! इस का उत्तर यह है कि-यहां परमात्माका ही दर्शनादि करना कहा है, जीवात्माका नहीं, क्योंकि-पूर्वापरका विचार करनेसे सब वाक्योंका समन्वय परमात्मा में ही होता है॥ १९॥

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

"आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञान की प्राप्ति होती है।" इत्यादि प्रतिज्ञासे भी आत्माके परमात्मत्वसिद्धिका लक्षण दीखता है, यह आश्मरथ्य मुनिका मत है २०

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः२१

यदि कहो कि-यहां आत्मशब्दका जीवात्मा अर्थ करने में क्या दोष है? तो इसका उत्तर यह है कि—उत्क्रमिष्यमाण साधनविशिष्ट ज्ञानीको परमात्मलाभ आ-

सन्न है इसकारण और सर्वप्रिय होनेसे क्रमागत आत्म-शब्दके द्वारा परमात्माका ही बोध होता है, यह 'औडु-लोमि मुनिका मत है ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

जैसे जलके भीतर सैंधेकी डली डालनेसे वह जलके साथ मिल जाती है, जल और सैंधेमें कोई भेद नहीं रहता है, जलका जो भाग लो वही लवणमय होता है, तैसे ही यह अपार अनन्त विज्ञानघन जीव प्रकृतिके अध्यासके कारण देह इन्द्रियादिरूपमें परिणामको प्राप्त हुए सकल भूतोंमेंसे उत्पन्न और उनके ही साथ एकत्र होकर देव मनुष्य आदि नामसे प्रकट दशाको प्राप्त होता है और फिर भूतसमूहके लयमें ही विलीन होजाता है, इसका उत्तर कहते हैं,काशकृत्स्न ऋषिने कहा है, कि-जल और सैंधेके टुकड़ेकी समान विज्ञानघन नामक जीव से इतर इस महाभूत परमात्माकी अवस्थितिका उपदेश होनेसे मध्यवर्ती वाक्यको भी परमात्मपरक ही मानना होगा ॥ २२ ॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् ॥२३॥

ब्रह्म ही जगत्की प्रकृति अर्थात् उपादान है, क्योंकि श्रुतिकी प्रतिज्ञा और दृष्टान्तोंके बलसे इस बातको अवश्य मानना पड़ेगा ॥ २३ ॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

श्रुतिमें परमात्माका ही चित्स्वरूप और जड़स्वरूपसे बहुत होनेके संकल्पका उपदेश देखनेमें आता है, अतः परमात्मा ही उभयस्वरूप है ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

ब्रह्मकी उभयरूपताका कथन श्रुतिमें देखनेमें आता है, इससे ब्रह्म ही जगत्का उपादानस्वरूप है और वही इसका निमित्तकारण है ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

परमात्माको ही कर्त्ता और कर्मस्वरूप कहा है । कूटस्थतादि धर्मके अविरोधिपरिणामविशेष होनेके कारण कर्त्तारूपमें स्थित पूर्वसिद्ध पदार्थकी कर्मरूपता भी असङ्गत नहीं है ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

श्रुतिमें ब्रह्मको ही कर्त्ता और योनिरूप कहा है, क्यों कि-ब्रह्म ही उपादान और निमित्त उभयस्वरूप है, योनि शब्दका अर्थ उपादान है ॥ २७ ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याता ॥२८॥

श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है कि 'क्षरप्रधान अमृत अक्षर है' संहारकर्त्ता परमात्मा ही सबके अध्यक्ष हैं उन्होंने लोकोंका भवरोग शान्त करके रुद्र नाम पाया है ।' इत्यादि स्थलमें रुद्र आदि शब्दोंके द्वारा शिव आदि देवताओंका बोध होगा या ब्रह्मका ? इसका उत्तर देते हैं कि-पूर्वोक्त समन्वय विचारके द्वारा हर आदि सब शब्द ब्रह्मरूपका उपदेश करनेवाले ही सिद्ध हुए हैं, क्योंकि-सब उनके ही नाम हैं ॥ २८ ॥

॥ इति प्रथम अध्यायका चतुर्थपाद समाप्त ॥

——:※:——

* द्वितीय अध्यायका प्रथमपाद *

दुर्युक्तिकद्रोगजवाणविक्षतं परीक्षितं यः स्फुटमुत्तराश्रयम् ।
सुदर्शनेन श्रुतिमौलिमयर्थं व्यधात्स कृष्णः प्रभुरस्तु मे गतिः ॥

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ॥ १ ॥

सर्वकारणस्वरूप ब्रह्ममें जो समन्वय दिखाया गया है उसका सांख्यके साथ विरोध है या नहीं ? इस शङ्का का उत्तर कहते हैं कि–अवकाशके न होनेका नाम अनवकाश है, अनवकाश शब्दसे विषयकी शून्यता प्रतीत होती है, समन्वयके कारण वेदान्तमें; साङ्ख्य स्मृतिका निर्विषयतारूप दोष आता है, इसलिये वेदान्तकी व्याख्या यथाश्रुत अर्थके विपरीत स्वरूपमें करना चाहिये, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि–ऐसी व्याख्या करने वाली मन्वादि स्मृतियोंमें निर्विषयतारूप दोष आवेगा। वेद–विरुद्ध अनाप्त विषयमें अनवकाशता होनेसे कोई हानि नहीं है ॥ १ ॥

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

इसके सिवाय सांख्यमें तो ऐसी बहुत सी बातें हैं कि–जो वेदानुकूल नहीं प्रतीत होतीं ॥ २ ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

योगस्मृतिके द्वारा वेदान्तकी व्याख्या करनी चाहिये क्योंकि-वेदांतके आश्रयसे ही योगस्मृतिका वर्णन हुआ है

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ४

यदि कहो; कि-वेद आप्त है या अनाप्त ? तो इसका उत्तर यह है कि-सांख्य आदि स्मृतियोंकी समान वेद का अप्रामाण्य नहीं होसकता, क्योंकि-वेद सांख्यस्मृति आदिसे विलक्षण है स्मृति आदिके विषयमें भी वेदका प्रमाण माना जाता है ॥ ४ ॥

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानु-गतिभ्याम् ॥ ५ ॥

यदि कहो कि-'इस तेजने देखा' इत्यादि प्रत्युक्तिसे वेदके एकदेशकी जब अप्रमाणता देखनेमें आती है तब उसकी और अंशोंमें भी अप्रामणता मानी जाय और वेदकी अप्रमाणता सिद्ध होने पर वेदमें कही हुई ब्रह्म की जगत्कारणता आदिको भी अवश्य ही अप्रमाण मानना पड़ेगा ? इसका उत्तर देते हैं कि-'इस तेजने देखा' इत्यादि श्रुतियोंमें जो तेज आदि शब्द आये हैं वह तेज आदिके अभिमानी चेतन देवताओंके उद्देश्य से हैं जड़ पदार्थोंके उद्देश्यसे उनका प्रयोग नहीं है तेज आदि शब्द देवताओंके विशेषण हैं,इस कारण वेद कभी अनाप्त नहीं होसकता ॥ ५ ॥

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

यदि कहो कि-ब्रह्म जगत्का उपादान नहीं होसकता क्योंकि-विरूपता होजानेसे ब्रह्मको जगत्का कारण नहीं कहसकते ? इसका उत्तर यह है कि विरूपका भी उपादान और उपादेय होता है, ब्रह्ममें विरूपताका दोष आवेगा, इससे जगत्का उपादान नहीं होसकता, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-परस्पर विरूप दो वस्तुओं में भी उपादान उपादेयभाव देखनेमें आता है ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

ब्रह्म और जगत्में विरूपता कहने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि–समानरूपताका निषेध करनेके लिये ही पहिले सूत्रमें वैरूप्यका वर्णन किया है। उसके द्वारा उपादानसे उपादेयका अन्य द्रव्यपना प्रकट नहीं होता है, इससे ब्रह्म और जगत्की विरूपता रहने पर भी एकताके कारण जगत्रूप कार्यको असत् नहीं कहा जा सकता ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

सूक्ष्म शक्तिवाला चित् जड़ात्मक ब्रह्म अनेकों अपुरुषार्थ और विकारोंके भण्डार जगत्का उपादान होनेपर भी प्रलयके समय विकारी जगत्के संसर्गसे उसमें विकार और अपुरुषार्थताका दोष नहीं आता है अतः उपनिषदों के सकल वाक्योंमें जो सर्वज्ञत्व निरवद्यत्व आदि गुणों वाले ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण बताया है; उनसे भी विरोध नहीं होता ॥ ८ ॥

न तु दृष्टान्तभवात् ॥ ९ ॥

उपरोक्त पूर्वपक्षका उत्तर कहते हैं, कि–उपादेय जगत् का संसर्ग होने पर भी उपादान ब्रह्मकी शुद्धतामें अंतर नहीं पड़ता है, क्योंकि–उसकी सर्वकालकी शुद्धताके दृष्टान्त विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

सांख्य-दर्शनके अनुसार हमारे पक्षमें जो दोष आये थे, सांख्यके मतमें भी वह सब दीखते हैं, क्योंकि–इन

सब दोषोंको कहकर उनका खण्डन अन्यत्र किया है, उपादान और उपादेयकी विरूपता सांख्यके मतमें भी प्रतीत होती है, क्योंकि-उनके मतमें शब्दादिरहित प्रधानसे शब्दादि सहित जगतकी उत्पत्ति मानी है।१०।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

पुरुषकी बुद्धिमें नानापन विद्यमान है, इसलिए सब तर्क अप्रतिष्ठित हैं, उन तर्कोंका अनादर करके उपनिषदों में लिखी हुई ब्रह्मकी उपादान कारणताही माननी चाहिए। प्रतिष्ठा पाने वालोंकी तर्क प्रतिष्ठित नहीं मानी जासकती, क्योंकि-कणाद और कपिल प्रतिष्ठित हैं, परन्तु उनके मतमें परस्पर विरोध देखनेमें आताहै। और सब तर्कोंको अप्रतिष्ठित भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि एक तर्कका खण्डन करने वाला दूसरा तर्क ही प्रतिष्ठा पाती है, सब तर्कोंको अप्रतिष्ठित कहदेनेसे जगत्का व्यवहार ही नष्टप्राय होजाय ॥ ११ ॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता : १२

पतञ्जलि और कपिल आदिकी समान न्यायकणाद और अक्षपाद आदि दार्शनिकोंका भी खण्डन हुआ, क्योंकि-दोनोंके दोष एक समान हैं ॥ १२ ॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।१३।

भोक्ता जीवके साथ ब्रह्मकी एकता होनेसे अर्थात् शक्तिसे उत्पन्न हुए जीवके साथ शक्तिमान् ब्रह्मका अभेद होनेसे "द्वा सुपर्णा" इत्यादि श्रुतियोंमें कहे हुए

जीव ब्रह्मके भेदभावका लोप होजायगा, । ऐसा विचार कर ब्रह्मकी उपादानताको युक्तिविरुद्ध नहीं कहा जा सकता. क्योंकि-लौकिक उदाहरणसे ही इसका उत्तर होसकता है ॥ १३ ॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

यदि कहो कि-उपादेय जगत् उपादान ब्रह्मसे भिन्न है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि-जीव-शक्ति-युक्त और प्रकृति-शक्ति-युक्त उपादान ब्रह्मसे उपादेय जगत् भिन्न नहीं है। क्योंकि-वेदवाक्य जगत्को ब्रह्मसे भिन्न नहीं कहता है ॥ १४ ॥

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

घड़ा कुण्डल आदि उपादेयमें जब मट्टी सोना-आदि उपादानका ज्ञान होता है, तब उपादानसे उपादेयका भेद मानना ठीक नहीं है ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

इस विषयमें यह भी युक्ति है कि-आगेको होने वाली उपादेयकी प्रकटतासे पहिले तादात्म्यभावसे उपादानमें सत्ता दीखती है, इस कारण उपादान और उपादेय भिन्न भिन्न नहीं हैं ॥ १६ ॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

यदि कहो कि-'यह जगत् उत्पत्तिसे पहिले नहीं था' इस श्रुतिमें उत्पत्तिसे पहिले न होना जब कहा है तो उपादानमें उपादेयकी स्थिति मानना ठीक नहीं है । यह

बात भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि-यहाँ जो असत्‌का उपदेश दीखरहा है, वह तुम्हारी मानी हुई तुच्छता नहीं है, किन्तु वह भी एक धर्म ही है उपादान-भावमें और उपादेय-भावमें स्थित एक वस्तुकी ही स्थूलता और सूक्ष्मता दो अवस्था सत् और असत् शब्दसे कहीं हैं, स्थूलताधर्मसे सूक्ष्मताधर्म भिन्न है। जगत् सृष्टिसे पहिले सूक्ष्मभावमें स्थित होनेसे असत् कहाता है यह असत्ता अन्य धर्म है सो वाक्य शेषसे प्रतीत होता है १७

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

असत्ताके अन्य धर्म होनेमें युक्ति और शब्दान्तर ही हेतु है ॥ १८ ॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

जैसे वस्त्र उत्पन्न होनेसे पहिले सूत्ररूपमें स्थित होता है, फिर तानेवानेके रूपमें गुथेहुए सूत्रमेंसे उसकी प्रकटता होती है तैसे ही जगत् सूक्ष्म शक्तिवाले ब्रह्मस्वरूपमें ही स्थित होता है, फिर जब ब्रह्मकी सृष्टिको रचनेकी इच्छा होती है, तब उसमेंसे ही प्रकट होकर प्रकाशित होजाता है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

जैसे प्राणायामसे प्राण और अपान आदि रुककर भी उस समय मुख्य प्राणरूपमें स्थित होते हैं, और फिर प्रवृत्तिके समय जब हृदय आदि स्थानमें मुख्य प्राण स्थित होता है, तब इस प्राणमेंसे ही अपनी अवस्थामें प्रकाशित होजाते हैं, तैसे ही जगत् भी सूक्ष्म शक्तिवाले ब्रह्ममें उसके ही स्वरूपमें ही स्थित होता है फिर ब्रह्मकी

सृष्टि रचनेकी इच्छा होने पर उसमेंसे ही फिर प्रधान महत्तत्त्व आदिरूपसे प्रकाशित होजाता है ॥ २० ॥

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

यदि कहो कि-जीवको जगत्‌का कर्त्ता जाननेमें क्या दोष है, तो इसका उत्तर यह है कि-हितकारणादि दोष आवेंगे, प्रधान आदि कार्योंका रचना जीवके लिए असह्य है, कीड़ा रेशमके कोशको रचकर उसमें घुसजाता है परन्तु शरीर कारागारको नहीं रचसकता ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

भेद होनेसे जीवकी ब्रह्मसे अधिकता मानी जायगी परम शक्तिमत्ता और धर्मोन्नतिके कारण जीवसे ब्रह्म ही अधिक है ॥ २२ ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

पाषाण आदिकी समान स्वतन्त्रतावश जीवका अकर्त्तापन नहीं होसकता, जीव स्वरूपसे ही चेतन तो है परन्तु स्वतन्त्र नहीं है ॥ २३ ॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ।२४।

जीव जो कर्म करता है उनका उपसंहार है अर्थात् उस के द्वारा जो कर्म आवद्ध होते हैं उनका ही वह सम्पादन करता है, इस कारण पाषाण आदिकी समान जीवको अकर्त्ता नहीं कहा जासकता, इस पूर्वपक्षका यह उत्तर है कि-जीवमें जो जो कार्योंका उपसंहार देखनेमें आता है उसकी प्रवृत्ति दूधकी समान है, जीवमें दीखता हुआ

कार्योपसंहार उसकी स्वतन्त्रताके कारण परमेश्वरकृत मानना चाहिए ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

इन्द्रादि देवताओंको हम देख नहीं सकते हैं, परन्तु पृथिवी पर जैसे उनका वर्षा आदिके विषयमें कर्त्तापन माना जाता है, तैसे ही ईश्वरको हम देखते नहीं हैं तथापि उसका विश्वकर्तृत्व अवश्य मानना पड़ेगा ।२५।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयत्वशब्दकोपो वा २६

अंगुली आदिके द्वारा तृण आदि उठानेके काममें सम्पूर्ण जीवस्वरूपका कर्त्तापन अनुभवमें नहीं आता है यदि जीव पूर्ण रूपसे प्रवृत्त होता तो पूर्णस्वरूपकी अपेक्षा होती। जैसे बड़े भारी पाषाण आदिके उठानेमें चेष्टा होती है तृणके उठानेमें तैसे चेष्टा नहीं होती, इसमें सब कर्त्तसमार्थ्यके थोड़ेसे अंशका अनुभव होता है, इन सब कार्योंमें स्वरूपका अंश भी नहीं कहासकता, क्योंकि-जीवका स्वरूप निरंश है, यदि उसके अंश मानोगे तो निरंश बताने वाली श्रुतिसे विरोध आवेगा, इस लिए जीवको कर्त्ता नहीं माना जासकता ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

ब्रह्मको कर्त्ता माननेमें जो लोगोंको दोष दीखते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिके प्रमाणसे ही ब्रह्मका कर्त्तापन प्रसिद्ध हुआ है, जिस विषयमें विचारशक्ति काम नहीं देसकती उसमें केवल शब्दप्रमाणको ही मुख्य माना जाता है ॥ २७ ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

ईश्वरकी विभूतिरूप कल्पवृक्ष और चिन्तामणि आदि और हाथी घोडे आदि विचित्र सृष्टिकी उत्पत्ति होजाती है, इस बातको जैसे शब्दप्रमाण पर विश्वास करके मान लेते हैं, तैसे ही सर्वेश्वर विष्णुसे देवता मनुष्यादिकी सृष्टि होती है इस बातका श्रुतिवाक्यसे ही विश्वास करना होगा ॥ २८ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

जो जीवके कर्तृत्व आदिको मानते हैं, उनके पक्षमें भी वही कृत्स्नप्रसक्ति दोष आता है, उसको दूर करनेके लिए ब्रह्मका कर्तृत्व ही मानना चाहिए ॥ २९ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंमें कल्प वृक्षादिकीसी विचित्र शक्ति नहीं कही हैं, फिर ब्रह्मको विचित्र सृष्टिका उत्पन्न करनेवाला कैसे मानलें ? इसका उत्तर यह है कि—जब परमात्माको निःसंदेह सर्वशक्तिमान् कहा है, तब उससे विचित्र सृष्टि हो ही सकती है, अतएव वह ही सृष्टिका कर्त्ता है ॥ ३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

यदि कहोकि—जब वेद उसको इन्द्रियरहित कहता है, तब वह कर्त्ता हो ही कैसे सकता है ? इसका उत्तर यह है कि—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्यों कि—ब्रह्म स्वयं ही सर्वशक्तिमान् है ऐसा वेदवाक्य होनेसे इन्द्रियहीन होनेपरभी ब्रह्म जगत्का कारण होसकता है ॥ ३१ ॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

पूर्ण होनेसे ब्रह्मको कोई प्रयोजन नहीं है, अतः कोई प्रवृत्ति भी नहीं होती है, क्यों कि-पूर्णकाम को इच्छा कहां? और इच्छा नहीं तो फिर सृष्टि रचना आदिमें उसकी प्रवृत्ति भी कैसे होसकती है? इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं ॥ ३२ ॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३ ॥

जैसे लोकमें राजा आदिकी कोई प्रयोजन न होनेपर भी लीलाके निमित्त प्रवृत्ति होती है तैसे ही ब्रह्मकी ऐसी प्रवृत्तिको केवल लीलाके निमित्त ही समझना चाहिये ३३

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

सर्वेश्वर परमात्मा सृष्टिमें किसीको सुखी और किसी को दुःखी बनाते हैं इससे विषमदृष्टि वा निर्दयता आदि दोषका सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि-यह रचना कर्मोंके अनुसार होती है, जीव अपने कर्मोंके फलसे ही सुख दुःख भोगते हैं ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्॥

यदि कहो कि-प्रलयके समय कर्मका विभाग नहीं होता है तब सृष्टिकी रचनाके समय परमात्माके ऐसा करनेसे विषमदृष्टि आदिदोष आवेगा ही, इसका उत्तर यह है कि-यद्यपि सृष्टिके प्रारम्भमें परमात्माके किये हुए कर्मविभागका धोखा होता है, परन्तु वास्तवमें जीवोंके कर्म और जीव दोनोंको अनादि माना है॥३५॥

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

यदि कहो कि-भक्तोंकी रक्षा करने आदिमें भी तो विषमदृष्टिका दोष आता है, तहाँ कहते हैं कि-भक्तवत्सलता दोष नहीं है किन्तु इसको तो सब लोग भगवान्‌का गुण कहते हैं ॥ ३६ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

विरुद्ध अविरुद्ध सब ही धर्म अचिन्त्य परमेश्वरमें उपपन्न होसकते हैं अतः भक्तपक्षपातरूप गुणका ज्ञानी को आदर करना चाहिये ॥ ३७ ॥

॥ द्वितीय अध्यायका प्रथमपाद समाप्त ॥

---

* द्वितीय अध्यायका द्वितीयपाद *

कृष्णद्वैपायनं नौमि यः साक्षात्श रोपमः ।
सर्वेषां परमार्हश्च सांख्ययुक्तिविशारदः ॥

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

यदि कहो कि-प्रकृतिको ही इस दृश्यमान जगत्‌का कारण मान लिया जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि-जगत्‌की रचना अद्भुत है, प्रकृति अचेतन है चेतन अधिष्ठानके बिना अचेतन प्रकृतिसे यह रचना नहीं होसकती

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

प्रवृत्तिके दृष्टान्तसे यदि प्रधान (प्रकृति) को उपादान माने सो नहीं होसकता, क्योंकि-चेतन कर्त्ताके बिना जड़की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती ॥ २ ॥

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

यदि कहो कि-जैसे दूध आप ही दहीरूप होजाता है मेघका वर्षा हुआ जल जैसे एकरस होने पर भी आम्र आदि अनेकों प्रकारके फलोंमें आप ही मीठा खट्टा आदि अनेकों प्रकारका होजाता है, तैसे ही कर्मकी विचित्रता के अनुसार एक ही प्रकृति शरीर भवन आदि अनेकों प्रकारकी होजाती है, इसका उत्तर यह है कि-चेतनका अधिष्ठान होनेसे ही अचेतन दूध आदि दही आदिके रूपका होता है, अपने आप नहीं ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

सांख्यवादियोंके यहाँ तीनों गुणोंकी समान अवस्था का नाम प्रकृति है, उसके सिवाय सृष्टिसे पहिले कोई प्रवृत्त या निवृत्त करनेवाला है ही नहीं, क्योंकि-पुरुष उदासीन है, फिर प्रकृतिसे परिणामरूप सृष्टि ही कैसे होसकती है ? ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च तृणादिवत् ॥ ५ ॥

यदि कहो कि-जैसे तृण पत्ते आदि गौ आदिके खा लेने पर अपने आप ही दूध आदि रूपसे परिणत होजाते हैं, तैसे ही प्रकृति भी महत्तत्त्व आदि रूपमें परिणत हो कर सृष्टिरचनाका कारण होजायगी ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

यदि प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मानो तो उससे कोई फल सिद्ध नहीं होता है ॥ ६ ॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

जड़की स्वयं प्रवृत्ति सर्वथा असिद्ध है, यह ठीक है कि-पंगुको चलनेकी शक्ति नहीं होती है, तथापि उसमें मार्ग दिखाने और उपदेश देनेकी शक्ति है; अन्धेमें देखनेकी शक्ति न होने पर भी पंगुके दिये हुए उपदेशको ग्रहण करनेकी शक्ति है और चुम्बक पत्थरमें लोहेको समीप कर लेनेकी शक्ति है परन्तु निर्मल निष्क्रिय पुरुषमें कोई विकार नहीं है ॥ ७ ॥

अंगित्वानुपपत्तेः ॥ ८ ॥

सत्त्वादि गुणोंकी समान-भावसे स्थितिका नाम प्रकृति वा साम्यावस्था है, उस अवस्थामें सब गुण अपने स्वरूपमें निरपेक्ष रहते हैं, अतः स्वरूपनाशके भयसे एक दूसरेका अंग वा अंगी नहीं होसकते, इस कारण उन की प्रवृत्ति न होनेसे प्रकृतिको सृष्टिका उपादान कारण नहीं कहा जासकता ॥ ८ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ९

कार्योंके अनुसार गुण विचित्र स्वभावके होते हैं, ऐसा अनुमान करनेसे पूर्वोक्त दोष दूर नहीं होता क्यों कि—गुणोंमें ज्ञातापन के स्वभाव का तो फिर भी अभाव ही रहेगा ॥ ९ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

इस विरोधके कारण सांख्योंका सिद्धान्त ठीक नहीं ठहरता है, इसीलिए मुमुक्षु पुरुष उसको त्यागदेते हैं, सांख्यदर्शनमें एकबार प्रकृतिके भोगकर्त्ता पुरुषको शरीर आदिसे पृथक् स्वीकार करके ज्ञातृत्व भोक्तृत्व आदिसे शून्य कहागया है, अन्तमें फिर बन्ध मोक्ष गुण पुरुषके

नहीं हैं ऐसा कहा है और प्रकृतिके संसर्गसे पुरुष बन्धन को प्राप्त होता है, यह भी कहा है अतः बहुतसे विरोध देखनेमें आते हैं ॥ १० ॥

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ११

परमाणुओंसे जगत्की सृष्टि मानना यह मत युक्त है या अयुक्त, अब इसी विषयका विचार करते हैं कि-ह्रस्व द्व्यणुक और परमाणुसे महत् और दीर्घ त्र्यणुककी उत्पत्तिकी समान तार्किकोंका सब ही मत विरुद्ध है। परमाणुके द्वारा द्व्यणुक आदिके क्रमसे पृथिवी आदिकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि-निरवयव परमाणुसे सावयव द्व्यणुक आदि कैसे उत्पन्न होसकते हैं?

उभयथापि च कर्मातस्तदभावः । १२ ।

परमाणुक्रियाजनित परमाणुसंयोगसे उत्पन्न हुए द्व्यणुक आदि क्रमसे तार्किक जगत्की उत्पत्ति कहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि-वह परमाणुकी क्रिया परमाणुगत अदृष्टसे उत्पन्न होती है या आत्मगत अदृष्टसे आत्मगत धर्माधर्मसे उत्पन्न हुए अदृष्टको परमाणुगत तो कह नहीं सकते और आत्मगत अदृष्टसे परमाणुगत क्रिया उत्पन्न नहीं होसकती, इसकारण दोनों रीतिसे आद्यक्रियाका जनक अदृष्ट सिद्ध नहीं होता ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

समवायको माननेसे भी समताके कारण अनवस्था होती है ॥ १३ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

समवायकी नित्यता मानने पर जगत्को भी नित्य मानना पड़ेगा और कभी प्रलय होनी ही नहीं चाहिए अतः तार्किकमत ठीक नहीं है ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् १५

इसके सिवाय पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओंको रूप-रस-गन्ध-स्पर्श युक्त माना है, तो उनकी नित्यता, निरवयवता आदिमें उलट फेर होजायगा, क्योंकि-रूपादियुक्त घटादि पदार्थों की अनित्यता ही देखने में आती है, अतः तार्किकमत ठीक नहीं है

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

दोनों प्रकार अपरिहार्य दोषके कारण तार्किकमत अद्धेय नहीं है ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

इसके किसी अङ्गको भी किसी शिष्ट पुरुषने नहीं माना है, अतः इसकी अपेक्षा किसी शुभाभिलाषीको नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः १८

उभयसंघात हेतुक दो प्रकारका समुदाय कहा है, उसको स्वीकार करने पर उसकी अप्राप्ति है, अतः उस की कल्पना ठीक नहीं है ॥ १८ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

प्रत्यय शब्द हेतुवाचक है, अविद्या आदिका परस्पर के हेतुसे संघात होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-वह पहले २ अगले २ की उत्पत्तिमात्रमें कारण होते हैं, संघातके कारण नहीं होते हैं इससे सौगत मत ठीक नहीं है ॥ १९ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

क्षणभंग मत वाले समझते हैं कि-उत्तर-क्षणकी उत्पत्तिमें पहिला क्षण रुक जाता है, परन्तु ऐसा कहने से भी अविद्या आदिकी परस्पर हेतुतामें हेतुहेतुमद्भाव दिखाना असंभव है, क्योंकि-पूर्वक्षणवर्त्ती कारण, विरुद्ध होनेसे कार्यकर्त्ता नहीं होसकता ॥ २० ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥

उपादानकी असत्तामें यदि उत्पत्ति मानोगे तो स्कन्ध-रूप हेतुसे समुदायकी उत्पत्ति होती है, इस प्रतिज्ञाका भंग होगा, इसके सिवाय सर्वदा सर्वत्र सब द्रव्य उत्पन्न होजाने चाहिये, अतः असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं मानी जासकती ॥ २१ ॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २१ ॥

सकल भावोंके बुद्धिपूर्वक ध्वंसको प्रतिसंख्यानिरोध और उसके विपरीतको अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं, आवरणके अभावका नाम ही आकाश है, यह तीन शून्य हैं इनके सिवाय और सब क्षणिक हैं, सद्वस्तुके निरन्वय नाशका अभाव होनेसे यह दोनों निरोध अस-

म्भव होजाते हैं, अन्य अवस्थाकी प्राप्ति ही सद्वस्तुकी उत्पत्ति है, ध्वंस भी अवस्थाश्रय है, एक वस्तु ही स्थायी है, सद्वस्तुके विनाशशून्य होने पर क्षणान्तरमें विश्वको शून्य देखना होता, परन्तु जब ऐसा नहीं होता है, तब जो दीपकी समान घटादिका निरवशेष विनाश मानते हैं, उनका मत भी स्वीकार करने योग्य नहीं है ॥२२॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

बौद्धमत वाले जो संसारकी कारण अविद्याके निरोध को ही मोक्ष कहते हैं, सो तत्त्वज्ञानकी बात नहीं है, क्योंकि-ऐसा होनेसे अप्रतिसंख्यानिरोधका मानना निष्फल होगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि-आप ही मोक्ष होजाती है, ऐसा कहनेसे साधनाका उपदेश निरर्थक होगा इसलिये बौद्धमतका माना हुआ मोक्ष असिद्ध है ॥ २३ ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

आकाशमें जो शून्यता मानी गई है, कोई विशेषता न होनेसे वह भी असम्भव है ॥ २४ ॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

पहिले अनुभवमें आये हुए पदार्थोंकी स्मृतिको अनुस्मृति कहते हैं, अनुस्मृति शब्दसे प्रत्यभिज्ञा समझी जाती है संसारके सब ही द्रव्य अनुस्मृतिसे ध्यानमें आते हैं, इसलिये भाव पदार्थ क्षणिक नहीं होसकता २५

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

अदृष्टवश असत्‌के पीत आदि आकार ज्ञानमें स्थित रहते हैं, यह भी असम्भव है ॥ २६ ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

भाव पदार्थको यदि क्षणिक कहा जायगा, तब असत् से सत्‌की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जिससे कि-उपाय-हीन उदासीनके उपायकी भी सिद्धि माननी पड़ेगी २७

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

यदि कहो कि-सब ही पदार्थोंको ज्ञानात्मक मानना उचित है या नहीं ? तो इसका उत्तर यह है, कि-जब नियमके साथ पारहे हैं तब उन बाहरी वस्तुओंको, नहीं हैं, ऐसा किसप्रकार कह सकते हो ? ॥ २८ ॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

यदि कहो कि-बाहरी पदार्थोंके बिना वासनासे होने वाली ज्ञानकी विचित्रताके कारण जैसे स्वप्नमें व्यवहार होता है, तैसा ही व्यवहार जाग्रत् अवस्थामें क्यों नहीं होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि-परस्पर वैधर्म्यके कारण स्वप्न और जाग्रत्‌के व्यवहारकी एकरूपता नहीं मानी जासकती, क्योंकि-स्वप्नके धर्म जाग्रत्‌के धर्मोंसे सर्वथा भिन्न हैं ॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

उपलब्धि न होनेके कारण वासनाकी सत्ता ही नहीं मानी जासकती ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

पूर्वपक्षीके मतमें सब ही वस्तु क्षणिक हैं, यदि ऐसा

होगा तो वासनाकी आश्रयरूप स्थिर वस्तुओंको विद्यमान भी न कह सकेंगे ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

माध्यमिकके मतमें एक शून्य ही तत्त्व है यदि कहो कि वह युक्त है या अयुक्त ? तो इसका उत्तर यह है कि—अनुपपत्ति होनेसे वह ठीक नहीं है। इस शून्याभाव अभाव और भावाभाव, इन तीनोंमेंसे किसीका भी प्रतिपादन नहीं होसकता ॥ ३२ ॥

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३३ ॥

यदि बूझो कि—आर्हत मतके जीव आदि पदार्थ ठीक हैं या नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि—असम्भावना के कारण एक पदार्थमें एक साथ विरुद्ध धर्मोंका होना अत्यन्त असम्भव है ॥ ३३ ॥

एवं चात्माकात्स्न्र्यम् ॥ ३४ ॥

एक ही पदार्थमें सत्ता असत्ता आदि विरुद्ध धर्मोंका होना जैसे दोष है, तैसे ही आत्माका अकात्स्न्र्य है।३४।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः॥

जीवकी अनन्तावसरता मानतेहुए बालक युवा आदि शरीर अथवा हाथी घोड़े आदि शरीरकी प्राप्तिमें उसके अवयवोंका आना जाना रूप वि- पततासे द्वारा उस २ शरीरके परिमाणको ठीक मानना भी नहीं बनता, क्यों कि—उसमें जीवके विकार आदि दूर नहीं होसकते ऐसा कहनेसे जीवके विकार, अनित्यता, कृतनाश और अकृत-प्राप्तिको नहीं हटाया जासकता, जीवमें विकार आदि हैं

नहीं सकते, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि-जीव की मुक्तिकालकी परिणामअन्यता और अजन्यता आदि विकल्पके कारण अनित्य है ॥ ३५ ॥

अंत्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः

दोनों अवस्थामें नित्यताके कारण मोक्षावस्थामें कुछ विशेषता नहीं है ॥ ३६ ॥

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पाशुपत मतमें करण, कार्य, योग, विधि और दुःखांत यह पाँच पदार्थ हैं,यह सिद्धान्त ठीक है या नहीं ? इस का उत्तर यह है कि-असमञ्जसताके कारण ठीक नहीं है, पशुपति आदि देवताओंका सृष्टिकर्त्ता होना बताने वाले सकल वाक्य वेदादि शास्त्रोंके साथ एकवाक्यता होने पर एक नारायणका ही वर्णन करने वाले सिद्ध होते हैं ॥ ३७ ॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

सम्बन्धकी अनुपपत्तिके कारण ईश्वरका जगत्के कर्त्तापनका सम्बन्ध नहीं होसकता, क्योंकि-ईश्वर देह-रहित है कुम्हार आदि शरीर वाले हैं कुम्हारके शरीर आदिके साथ ही मृत्तिका आदिका सम्बन्ध है तब ही कुम्हार आदिके द्वारा घट आदिकी उत्पत्ति होती है ३८

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

अधिष्ठानकी अनुपपत्तिके कारणसे भी ईश्वरका जगत् कर्तृत्व नहीं होसकता, ईश्वर-शरीररहित है, जिसके शरीर हो उसीका अधिष्ठान होसकता है ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

यदि कहो कि-शरीररहित जीवका जैसे देह इंद्रियादि अधिष्ठान होता है,तैसे ही ईश्वरका अधिष्ठान भी प्रकृति है, तो इसका उत्तर यह है, कि—प्रलयके समय प्रकृति नहीं रहती है, । वह इन्द्रियोंकी समान क्रियाका साधन है, उसको अधिष्ठान करके ईश्वर जगत्की सृष्टि करता है, यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि-ऐसा कहने पर ईश्वरको भोग आदि भी होना चाहिए इन्द्रियोंके स्थानमें प्रकृतिको मानने पर जन्म मरण आदि होना चाहिये, तब ईश्वरको सुख दुःख आदिका भोगी अनीश्वर कहना पडेगा ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

यदि कहो कि-अदृष्टानुसार ईश्वरके कुछएक शरीर आदि माननेमें क्या हानि है, इस लोकमें यही प्रकार देखनेमें आता है, सब पुण्यवान् राजे शरीरधारी हैं, वह अपने २ अधिष्ठानभूत राज्यके स्वामी हैं, इसका उत्तर यह है कि-ऐसा कहनेसे जीवकी समान ईश्वरमें शरीर आदिका सम्बन्ध, अन्तवान्पना और असर्वज्ञता का दोष आवेगा, जो कर्मके आधीन होता है वह कभी सर्वज्ञ नहीं होसता ॥ ४१ ॥

उत्पत्त्यसंभवात्४२ न च कर्तुःकरणम्४३

शक्तिके माननेवाले भी वेदविरुद्ध अनुमानसे शक्तिकी कारणता सिद्ध करते हैं, परन्तु इस मतमें भी लौकिक युक्तिके अनुसार शक्तिको अनुग्रहकर्ता मानना होगा ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

यदि पुरुषको नित्यज्ञान आदि गुणवाला कहो तो यह मत ब्रह्मवादके अन्तर्गत ही होगया, क्योंकि-ब्रह्मवाद में ऐसे पुरुषसे ही जगत्‌की उत्पत्ति आदि मानी है ४४

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

शक्तिवाद तुच्छ है, क्योंकि-वह वेद और युक्तिके विरुद्ध है, अतएव जो हित चाहते हैं वे दोषरूप काँटों से भरे सांख्य आदि मार्गोंको त्यागकर वेदान्तमार्ग का ही अवलम्बन करें ॥ ४५ ॥

॥ द्वितीय अध्यायका द्वितीयपाद समाप्त ॥

—— o ——

* द्वितीय अध्यायका तृतीयपाद *

व्योमादिविश्वं गोभिर्विमर्ति विजघान यः ।
स तां मद्विपर्यां भास्वान् कृष्णः प्रणिहनिष्यति ॥

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

छान्दोग्य उपनिषद्‌में लिखा है कि-'यह विश्व पहिले सत् था, उसने देखकर संकल्प किया कि-मैं बहुत होऊँगा प्रजाकी सृष्टि करूँगा, उन्होंने तेजको रचा, अन्नको रचा इत्यादि, यहाँ यह शंका होती है कि-आकाशकी उत्पत्ति है या नहीं आकाशकी उत्पत्ति नहीं है. यही युक्तियुक्त प्रतीत होता है, श्रुति प्रकरणमें असद्भाव होनेसे आकाश की उत्पत्ति नहीं मानी जासकती, आकाश नित्य और उत्पत्तिरहित है आकाशकी उत्पत्तिके विषयमें श्रुतिका प्रमाण नहीं हैं ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

ऊपर लिखे हुए पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि-आकाश की उत्पत्ति है छान्दोग्य उपनिषद्में तो आकाशकी उत्पत्ति नहीं कही है, परन्तु तैत्तिरीय श्रुतिमें लिखा है कि-ब्रह्मसे आकाशकी उत्पत्ति हुई है ॥ २ ॥

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥ शब्दाच्च ॥ ४ ॥

फिर यह शंका होती है कि-सम्भव न होनेसे आकाश की नित्यता बतानेवाले वाक्योंको गौण मानना होगा और आकाशके अज होनेमें श्रुतिरूप शब्द प्रमाण भी है॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

यदि कहो कि-तैत्तिरीयकी श्रुतिका एक ही सम्भूत शब्द अग्नि आदिका मुख्यभावसे वर्णन करके फिर आकाशका गौणरूपसे वर्णन कैसे करेगा ? इसका उत्तर यह है कि-एक ही ब्रह्मशब्दकी समान मुख्य और गौण दोनोंमें सम्भव होसकता है ॥ ५ ॥

प्रतिज्ञाहानिरव्यतरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

ऊपरके सूत्रमेंके पूर्वपक्षका उत्तर देते हैं कि-ब्रह्मके व्यतिरेकसे प्रतिज्ञाभङ्ग नहीं होता है, क्योंकि-इसमें श्रुतिरूप शब्दप्रमाण है ॥ ६ ॥

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ॥७॥

आकाशकी उत्पत्ति होना असम्भव है, यह शंका नहीं करना चाहिये,क्योंकि-लोकके उदाहरणकी समान श्रुतिमें भी विकार तक ही विभाग किया है अतः जब

आकाशका पृथिवी आदिसे विभाग किया है तो वह अवश्य विकारी है ॥ ७ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

आकाशकी व्याख्यासे ही वायुका भी व्याख्यान हो गया, जब आकाश कार्य सिद्ध हुआ तो उसका आश्रित वायु भी कार्य हो ही गया ॥ ८ ॥

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

अब सन्देह होता है कि-सत्स्वरूप ब्रह्म भी उत्पन्न होता है या नहीं ? महत्तत्त्व आदि सब ही कारणोंकी जब उत्पत्ति मानी गई है तब ब्रह्मकी भी उत्पत्ति माननी होगी, क्योंकि-वह भी कारण है, इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि-जिसका कारण नहीं होता उसकी उत्पत्ति नहीं होती, सत्स्वरूप ब्रह्मका कोई कारण नहीं है, इस कारण उसकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है ॥ ९ ॥

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

इस वायुसे तेजकी उत्पत्ति हुई, यही बात श्रुति कहती है ॥ १० ॥

आपः ॥ ११ ॥

अग्निसे जल उत्पन्न हुआ, यह भी श्रुतिमें लिखा है ११

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

यदि कहो कि-श्रुतिमें कहे अन्न शब्दसे यव आदिका बोध हो, तो इसका उत्तर यह है कि-अधिकार, रूप और शब्दान्तरसे अन्न शब्दका पृथिवी अर्थ प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

तदभिधानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

तिस ब्रह्मके संकल्पसे ही जब प्रकृति आदि सब तत्त्वों की उत्पत्ति है तो वह ही कारण है ॥ १३ ॥

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।१४।

विपर्ययमें जो क्रम दीखता है वह भी ब्रह्मको कारण माननेसे ही बनसकता है ॥ १४ ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नातिशेषात् ॥ १५ ॥

साथ पाठ होने मात्रसे मध्यमें विज्ञान और मनके क्रमसे सब तत्त्वोंकी साक्षात् सर्वेश्वरसे उत्पत्ति मानना नहीं बन सकता, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-इस विषयमें श्रुतियोंमें कुछ विशेषता नहीं कही है ॥ १५ ॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

इसप्रकार यदि सर्वेश्वर परमात्मा ही सर्वरूप हैं तब तो चर अचरके वाचक सब शब्द उन ही के वाचक होंगे, परन्तु व्यवहारमें उनके वाचक देखनेमें नहीं आते हैं, वह मुख्यरूपसे चराचरमें ही प्रयोग किए जाते हैं. तब तो सर्वेश्वरमें इन सब शब्दोंकी गौणी प्रवृत्ति रही, इस पूर्वपक्षका उत्तर कहते हैं, कि-तद्भावभावित्वके कारण चराचराश्रय तिनका उपदेश गौण न होकर मुख्य ही होगा ॥ १६ ॥

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

यदि कहो कि-आत्माकी उत्पत्ति है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि-श्रुति और स्मृतियोंमें आत्मा की नित्यताका वर्णन होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जासकती ॥ १७ ॥

सोऽत एव ॥ १८ ॥

यदि कहो कि-जीव ज्ञानमात्रस्वरूप है या ज्ञातारूप ? तो इसका उत्तर यह है कि-श्रुतिके प्रमाणसे जीवका ज्ञानस्वरूप होने पर भी ज्ञातास्वरूप भी माना जाता है, क्योंकि-श्रुति स्मृतियोंमें इसके प्रमाण मिलते हैं ॥१८॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

अब जीवके परिमाणका विचार करते हैं कि-जीव-विभु है या अणु ? निकलना, जाना, आना, आदि देखनेमें आता है, अतः जीवको अणु ही मानना होगा ॥ १९ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

उत्क्रान्ति न मानो तब भी जाना आना, तो कर्ताका ही होता है ॥ २० ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

बड़ा परिमाण सुननेमें आता है, इससे जीव अणु नहीं है, यह बात भी नहीं कही जासकती, क्योंकि-महत्परिमाणका वर्णन जीवाधिकारमें नहीं है उसका वर्णन परमात्माधिकारमें है ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ॥ २२ ॥

अणुत्वका वाचक शब्द और अणुपरिमाणका वर्णन होनेसे भी ऐसा कहा है ॥ २२ ॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

जीव यदि अणु है तो सब शरीरमें उसका अनुभव नहीं होना चाहिये, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-जैसे चन्दनकी विन्दु शरीरके एक देशमें ही लगनेसे सकल शरीरको आनन्ददायक होती है तैसेही जीव एक देशमें स्थित होने पर भी सर्व-शरीरव्यापी अनुभवमें आता है ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥

अवस्थितिकी विषमताके कारण दृष्टान्तमें विषमता कहना ठीक नहीं है ॥ २४ ॥

गुणाद्वालोकवत् ॥ २५ ॥

जीव अपने गुणसे प्रकाशकी समान शरीरमें व्याप्त होता है ॥ २५ ॥

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

गुण गुणीके स्थानसे पृथक् रह सकते हैं, जैसे कि-गन्ध पुष्पोंके बिना भी सुगन्धसे बसाये हुए पदार्थोंमें रहता है, इसी प्रकार अणुजीवका भी व्यतिरेक माना जाता है ॥ २६ ॥

तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

यही बात श्रुतिमें भी कही है कि-जीव अणु परिमाण वाला होने पर भी चैतन्यगुणके द्वारा सब शरीरमें व्याप्त है ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है, कि-"चैतन्यगुणके द्वारा इन्द्रियोंकी ज्ञानशक्तिको लेकर" इत्यादिमें आत्मा और चैतन्य गुणका पृथक् उपदेश होनेसे भी चैतन्य गुणके द्वारा शरीरव्यापित्व सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् २९

तद्गुणसारताके कारण प्राज्ञ शब्दकी समान ज्ञाता जीवका ज्ञानस्वरूपसे उपदेश है ॥ २९ ॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्

प्रमाणबलसे यावदात्मभावित्व होनेके कारण ज्ञान-स्वरूपका ज्ञातारूपसे वर्णन करनेमें कोई दोष नहीं है३०

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्

पुंस्त्व आदिकी समान सुषुप्तिमें जो रहता है जागने पर वही प्रकट होता है, इसकारण वही नित्य है ॥३१॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽ-न्यतरानियमो वान्यथा ॥ ३२ ॥

आत्माको उपाधिभूत अंतःकरणके वृत्तिके भेदसे मन बुद्धि, चित्त आदि अनेकों नामोंसे जहाँ तहाँ कहा है, इससे अन्तःकरणको अवश्य माना जायगा ऐसा न मानने से नित्य उपलब्धि और अनुपलब्धिका प्रसङ्ग होगा, या इनमेंसे एक नियम वा प्रतिबन्ध होगा ॥ ३२ ॥

कर्त्ता शास्त्रार्थत्वात् ॥ ३३ ॥

यह जीव ही कर्त्ता है, क्योंकि-ऐसा माननेसे ही 'यजेत, जुहुयात्' आदि वेदवाक्योंकी सार्थकता होती है

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

जीव क्रियाके विषयमें स्वतन्त्र हैं, ऐसा उपदेश होने से भी जीव कर्त्ता है ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

जीवके प्रकरणमें करणोंका ग्रहण होनेसे भी जीव कर्त्ता है ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्चक्रियायां नचेन्निर्देशविपर्ययः

क्रियामें मुख्यरूपसे वर्णन होनेसे दोनोंके कारण जीवही कर्त्ता सिद्ध होता है, नहीं तो जीवके विषयमें ऐसा वर्णन ही विपरीत होजायगा ॥ ३६ ॥

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

पहिले कही हुई उपलब्धिकी समान प्रकृतिको कर्त्ता माननेमें कर्मका अनियम होजायगा ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

यदि विज्ञान शब्दवाच्य बुद्धिको ही कर्त्ता माने तो शक्तिमें विपरीतता होगी अर्थात् उसमें करणशक्तिके स्थानमें कर्तृशक्ति माननी पड़ेगी और उसका कारण कोई और कल्पना करना पड़ेगा, जिससे बड़ा अस्तव्यस्त होगा ॥ ३८ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

आत्माका दर्शन श्रवण आदिरूप जो समाधि कही है वह भी आत्माको कर्त्ता विना माने सिद्ध नहीं होसकती, अतः जीवात्मा ही कर्त्ता है ॥ ३९ ॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

जैसे बढ़ई दोनों प्रकारसे अर्थात् बसूला आदि हाथ में लेने पर और न लेने पर भी कर्त्ता है तैसे ही आत्मा उपाधिसहित और उपाधिरहित दोनों रूपमें कर्त्ता है ४०

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

श्रुतिप्रमाणसे जीवका कर्त्तापन परमात्माधीन माना जायगा ॥ ४१ ॥

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा-वैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

विधि और निषेधकी व्यर्थता होने आदिके कारणसे जीवका कर्तृत्व परमेश्वरके अधीन ही मानना होगा ४२

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके ।४३।

अनेकों सम्बन्धोंका वर्णन होनेसे जीव अंश है, अन्य रूपोंमें भी आथर्वणिकोंने जो जीवकी ब्रह्मात्मकता कही है उससे अंशांशिभाव स्पष्ट है ॥ ४३ ॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

मन्त्रवर्णोंसे भी अंशांशिभाव सिद्ध होता है ॥ ४४ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

'ममैवांशो जीवलोके' इत्यादि स्मृतिमें जीवको ब्रह्मका अंश कहा है ॥ ४५ ॥

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

अंश शब्दसे कहे जाने पर भी मत्स्यादि अवतार प्रकाश आदिकी समान जीवतुल्य नहीं होसकते ॥४६॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

स्मृतियोंमें भी ऐसा वर्णन है ॥ ४७ ॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

देहके सम्बन्धसे ज्योति आदिके समान विधि निषेध प्रतीत होता है ॥ ४८ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

कर्ता भोक्ता आत्माका सब शरीरोंसे सम्बन्ध न होने के कारण फलभोग व्यतिकर (घोलमेल) नहीं होता है॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

पूर्वोक्त हेतु हेतु नहीं है, किन्तु हेत्वाभास है ॥५०॥

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

अदृष्टकी समानता न होनेसे सब जीवोंकी परस्पर तुल्यता नहीं मानी जाती है ॥ ५१ ॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

अभिसन्धि आदिमें भी जब अदृष्टकी ही कारणता देखनेमें आती है तब अदृष्ट ही विचित्रताका हेतु है५२

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

अन्तर्भावके कारण प्रदेशको विचित्रताका हेतु नहीं कहा जासकता ॥ ५३ ॥

॥ इति द्वितीय अध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥

———०———

* द्वितीय अध्यायका चतुर्थपाद *

स्वजाताः कलितोत्पाता मत्प्राणाः सन्त्यमित्रभित् ।
एतान् शाधि तथा देव यथा सत्पथगामिनः ॥

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

जैसे आकाश आदि। परमात्मासे उत्पन्न हुआ है प्राण (इन्द्रियोंका समूह) भी तैसे ही परमात्मासे उत्पन्न हुआ है ॥ १ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

आकाशकी उत्पत्ति कहनेवाली श्रुति गौण नहीं हो सकती, क्योंकि–प्रतिज्ञाकी हानि होती है ॥ २ ॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

सृष्टिसे पहिले कितनी ही वस्तुयें विलीन अवस्थामें रहती हैं और उनके द्वारा ही बहुतकी उत्पत्ति होती है, ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि–उस समय एक अद्वितीय परमात्माके होनेका ही निश्चय सुननेमें आता है, अतः वह श्रुति गौण है ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

वाणीके प्रधान महत्तत्व आदिकी सृष्टिपूर्वक होनेसे प्राणकी ब्रह्मकार्यता सिद्ध होती है ॥ ४ ॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

प्राण सात हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा हुआ विशेषण होनेसे पांच इन्द्रियें, बुद्धि और मन यह सात जीवके प्राण (इन्द्रिय) रूपसे गिने जाते हैं ॥ ५ ॥

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

जीवके शरीरमें हाथ आदि सातसे अधिक भी प्राण (इन्द्रिय) माने हैं, अतः सात प्राण कहना भी असङ्गत है

अणवश्च ॥ ७ ॥

इन्द्रियरूप प्राण अणुरूप हैं ॥ ७ ॥

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

मुख्य प्राण भी आकाश आदिकी समान उत्पन्न होता है, वह देहकी स्थितिका कारण होनेसे श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

पृथक् उपदेश होनेसे श्रेष्ठ प्राणशब्दमें वायु वा उसका स्पन्दनरूप क्रिया इन दोनोमेंसे कुछभी प्रतीत नहीं होता है ॥ ९ ॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः १०

शासन होनेसे प्राण, चक्षु आदि इन्द्रियोंकी समान जीवका उपकारी है १०

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति

कारण न होनेसे कोई दोष नहीं है, श्रुति भी यही बात दिखाती है ११

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

प्राण आदि पांच उसकी ही वृत्तिके भेद हैं, मन की समान भेदका वर्णनमात्र है १२

अणुश्च ॥ १३ ॥

प्राण अणु भी है १३

ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात् । १४ ।

ज्योतिर्मय ब्रह्म ही उनका मुख्य प्रवर्त्तक है १४

प्राणवत्तु शब्दात् । १५ ।

श्रुतिके प्रमाणसे प्राणयुक्त जीव ही सब इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है १५

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

वह अधिष्ठान नित्य होना चाहिए, अतः परमेश्वर ही मुख्य अधिष्ठान है १६

न इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्

प्राण शब्दसे मुख्यतः इन्द्रियोंका ही बोध होगा, क्योंकि ऐसा ही श्रुतिका प्रमाण है ॥ १७ ॥

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

भेदबोधक श्रुति होनेसे उनको अन्य तत्त्व कहा है १८

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

प्राणकी अपेक्षा इन्द्रियोंमें विलक्षणता दीखती है इस कारण भी अन्य तत्त्व हैं ॥ १९ ॥

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्

त्रिवृत्कर्ता परमेश्वरकी ही संज्ञामूर्तिके कर्तृत्वका उपदेश है, अतः उपर कहा पूर्वपक्ष ठीक नहीं है ॥ २० ॥

मांसादि भौमंयथा शब्दमितरयोश्च ॥

मांस आदि भूमिका विकार है, इसी प्रकार शब्द-प्रमाणसे जल और तेजका कार्य जानना ॥ २१ ॥

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः २२

विशेषताके कारण ही भेदका व्यपदेश है ॥ २२ ॥

* तृतीय अध्यायका प्रथमपाद *

न विना साधनैर्देवो ज्ञानवैराग्यभक्तिभिः।
ददाति स्वपदं श्रीमानतस्तानि बुधः श्रयेत्॥

तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।

प्रश्नोत्तरके द्वारा सूक्ष्म भूतोंके साथ देहान्तरकी प्राप्ति प्रतीत होती है॥ १॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥ २॥

वात, पित्त, कफरूप तीन धातुओंसे शरीर टिकाहुआ है और इसमें पृथिवीके अतिरिक्त अन्य भूतोंकी अपेक्षा जलका भाग अधिक है॥ २॥

प्राणगतेश्च॥ ३॥

प्राणोंकी गतिसे भी अन्य सूक्ष्म भूतोंकी गतिका निश्चय होता है, क्योंकि-जब प्राण जाते आते हैं तो वह सूक्ष्म भूतोंके आश्रयके बिना गमनागमन नहीं कर सकते॥ ३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्

श्रुतिमें अग्निके द्वारा प्राणोंकी गति कही है, अतः सूक्ष्म भूतोंके द्वारा प्राणोंकी गति मानना ठीक नहीं है क्योंकि-इसका वर्णन करनेवाली श्रुति गौण हैं॥ ४॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः

पहिली आहुतिमें जलका श्रवण न होनेसे जल आदि भूतोंके साथ जीवकी गति सिद्ध नहीं होती, यह नहीं कहा जासकता, क्योंकि-पहिली आहुतिमें श्रद्धा शब्द से इन सब जलादि भूतोंको ही लिया जाता है, इस कारण कोई विरोध नहीं आता ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः

इष्टादि कार्य करनेवालोंकी तैसी प्रतीतिके कारण श्रुतिका प्रमाण न होनेसे जल और उसके साथ जीव का भी गमन होता है, ऐसा न कहना चाहिये, यह शंका ठीक नहीं है ॥ ६ ॥

भाक्तं वा नात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति

जीवका भाक्त (अन्नत्व) गौण है, आत्मज्ञानके न होनेसे जीवको तैसी अवस्था प्राप्त होती है, श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा है ॥ ७ ॥

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ॥ ८ ॥

फल देते हुए कर्मोंका क्षय होने पर जीव भोगसे बचे हुए कर्मोंके साथ फिर संसारमें आता है इसमें प्रत्यक्ष श्रुति और स्मृतिका प्रमाण है, जिस प्रकार जाना होता है उसी प्रकार आना भी होता है और कभी २ अन्य अन्य प्रकारसे भी होता है ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति का-र्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

श्रुतिमें चरण शब्द है इसकारण कर्मशेष होनेसे योनि की प्राप्ति होती है, ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि-कार्ष्णाजिनि मुनिके मतमें चरण शब्दसे अनुशय अर्थ लिया है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् १०

कर्मकी सर्वार्थहेतुताके कारण आचारकी निष्फलता और पूर्व कही हुई विधि व्यर्थ हो, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-कर्मके लिये आचारकी अपेक्षा है ।१०।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥

बादरि मुनिके मतमें चरण शब्दका अर्थ सुकृत और दुष्कृत है ॥ ११ ॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥

श्रुतिमें लिखा है कि-इष्ट आदि करनेवालेकी समान इष्ट आदि न करनेवाले भी चन्द्रलोकमें जाते हैं ॥१२॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

अनिष्ट आदि करनेवालोंको संयमन नामक यमराज की पुरीमें जाना पड़ता है और तहाँ यमदण्ड भोगनेके अनन्तर फिर यहाँ आना पड़ता है, ऐसी उनकी गति देखनेमें आती है ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

नाचिकेतोपाख्यान आदिमें इसका वर्णन भी है १४

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

नरक सात हैं और उनमें पापी अपने कर्मोंका फल भोगते हैं ॥ १५ ॥

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

ईश्वरकी प्रेरणासे ही यम आदि दण्ड देते हैं, इस से ईश्वरके सर्वनियन्ता होनेमें विरोध नहीं आता है १६

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

विद्यासे देवयान और कर्मसे पितृयानगति प्राप्त होती है, ऐसा वर्णनसे पापीको चन्द्रलोककी गति मिलना असम्भव है ॥ १७ ॥

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

तीसरे स्थानमें शरीर पानेके लिये चन्द्रलोकमें जाकर पञ्चम आहुतिकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि-श्रुतिमें ऐसा कहा है ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

लोकमें ऐसे दृष्टान्त भी मिलते हैं ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

इन सब भूतोंकी अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज यह तीन प्रकारकी उत्पत्ति देखनेमें भी आती है ॥ २० ॥

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥

तीसरे उद्भिज्ज शब्दसे संशोकज (स्वेदज) का ग्रहण होता है ॥ २१ ॥

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

संसारमें आने वाले जीवकी जो आकाशादि रूपसे ति कही है, तो वह क्या आकाशादिस्वरूप होकर

आता है या उनकी समान ? इसका उत्तर यह है कि-आकाशादिका सादृश्य मानना ही ठीक है, क्योंकि-यह ही सिद्ध होता है ॥ २२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

आकाशादिसे शीघ्र ही उतरता है, क्योंकि-इसका विशेष प्रमाण मिलता है ॥ २३ ॥

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

अन्य जीवसे अधिष्ठित व्रीहि आदि शरीरमें स्वर्गसे च्युत हुए जीवका पूर्ववत् संश्रयमात्र और अन्य कर्मका अभाव दीखता है ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

व्रीहि आदि भाव शुद्धाशुद्ध मिश्र कर्म करनेवाले स्वर्ग-च्युत जीवके विशुद्धकार्यका फल भोगनेके लिये अपवित्र जन्म है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-इष्ट आदि मिश्र कार्य नहीं हैं, इसमें श्रुतिका प्रमाण है ॥ २५ ॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

और भी कहा है कि-व्रीहि आदि होनेके अनन्तर वीर्य सिंचन करनेवाले पुरुषसे संयोग होता है ॥ २६ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

रेतःसिंचन करनेवालेका संयोग होने पर जीव पिताके शरीरमेंसे माताके शरीरमें प्रवेश करता हुआ तुल्य शरीरको पाता है ॥ २७ ॥

॥ इति तृतीय अध्यायका प्रथमपाद समाप्त ॥

———०———

ॐ तृतीय अध्यायका द्वितीयपाद ॐ

विरिञ्चिर्विरक्तिश्च कृताञ्जलिः परौ यस्याः परानन्दतनोर्वितिष्ठते ।
सिद्धिश्च सेवासमयं प्रतीक्षते भक्तिः परेशस्य पुनातु सा जगत् ॥

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

वेदमें स्वप्नकी सृष्टिको भी ईश्वरकी कीहुई कहा है १

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

परमात्मा ही स्वप्नके मनोरथ और पुत्रादिका रचनेवाला है ॥ २ ॥

मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

स्वप्नकी वस्तुओंका स्वरूप परमार्थ वस्तुके स्वरूपमें प्रकट नहीं होता है इसकारण स्वप्नकी सृष्टिका कारण मायामात्र है ॥ ३ ॥

सूचकस्य हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ४

उसको शुभ अशुभका सूचक होनेसे और उसके विषयमें श्रुतिका प्रमाण होनेसे स्वप्नशास्त्रके जाननेवाले उसका फल कहते हैं ॥ ४ ॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

परमेश्वरके ध्यानसे स्वप्नके रथ आदिका तिरोभाव होजाता है, इस कारण केवल ईश्वर ही बन्धमोक्षका नियामक है ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

जीवके ज्ञानरूपी ऐश्वर्यका तिरोभाव देहयोगसे होताहै

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

नाड़ी,ब्रह्म और पुरीतति सुषुप्तिमें सबका श्रवण होने से सब ही विचारणीय है,अतः ब्रह्मसे ही प्रबोध होताहै८

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ९

कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधिसे उसका ही उठना प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

मूर्च्छाकी दशामें जीवको आधा ब्रह्मलाभ होता है१०

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

परमेश्वरके स्थानभेदसे भी स्वरूप और रूपमें भेद नहीं होता है. क्योंकि-सर्वत्र ब्रह्मका ही उपदेश है ११

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥

शास्त्रमें भिन्न २ प्रकारके ब्रह्मके आकार कहे हैं, तथापि प्रत्येक उपाधिके साथ ब्रह्मका अभेद होनेसे उस भेदको वास्तविक नहीं माना जासकता ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अनेकों शाखावालोंने ब्रह्मको निराकार और अनेकों आकारों वाला कहा है तब वह केवल आकाररहित ही कैसे होसकता है ॥ १३ ॥

अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात् ॥

ब्रह्म विग्रहयुक्त नहीं है किन्तु स्वयंविग्रह है, यह रूप ही प्रधान है ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

प्रकाशात्मा सूर्यकी समान ब्रह्मका विग्रह भी माना गया है ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥

श्रुतिमें विग्रहमात्रको परमात्मा कहा है अतः यह विग्रह ही सत्य है ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥

श्रुति स्मृतिमें आत्माकी विग्रहता दिखाई है ॥१७॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

जीवसे परमात्मा भिन्न है, इसलिए सूर्यादि शब्दों के समान परमात्मा के साथ जीवका सादृश्य दिखाया है

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

दूरवर्ति सूर्य और उसके आभासके आश्रय जलके साथ परमात्माका और उसकी उपाधिका सादृश्य न होने से जीव चिदाभास सिद्ध नहीं होसकता ॥ १९ ॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय-सामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

ऊपरके सूत्रमें प्रतिबिम्बभावके मुख्य सादृश्यको निराकरण होनेपर भी वृद्धि ह्रास आदिरूप साधर्म्यके कारण गौण सादृश्यको माना जाता है ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

देवदत्त सिंह, इत्यादि प्रयोगोंके देखनेसे भी गौणवृत्ति के द्वारा शास्त्रकी सङ्गति लगाईजाती है ॥२१ ॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः । २२ ।

श्रुतिमें एक मात्र निर्विशेष ब्रह्मकी स्थापना करते हुए ब्रह्मसे आगेकी वस्तुओंका निषेध नहीं किया है, किन्तु कुछ एक रूपका वर्णन करते हुए उसकी सीमा का निषेध किया है ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

ब्रह्म अव्यक्त (व्यापक) पदार्थ है, यही श्रुति स्मृति में कहा है ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्

भलीप्रकार भक्ति करनेसे परमेश्वरका चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष होता है यह बात श्रुति और स्मृतिमें कही है।

प्रकाशवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्म- ण्यभ्यसात् ॥ २५ ॥

अग्निकी समान स्थूलता और सूक्ष्मतारूप विशेषका अभाव होनेसे परमेश्वरको अग्निकी समान सूक्ष्मरूपमें अव्यक्त और स्थूलरूपमें दृश्य नहीं कहाजासकता, परमेश्वरका, निर्मित पूजादि क्रियाके अभ्याससे ही प्रकाश होता है ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

भगवान् अनन्त होने पर भी भक्तिके द्वारा प्रसन्न होकर भक्तके सन्मुख अपने स्वरूपका प्रकाश करते हैं ॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

ज्ञान और आनन्दस्वरूप होकर भी ब्रह्म सर्पके कुंडल की समान ज्ञान और आनन्दरूप धर्मवाला है ॥ २७ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

तेजःस्वरूपता और चैतन्य स्वरूपताके कारण प्रकाशके आश्रय की समान ब्रह्मके स्वरूपका निर्णय कियाजाता है

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

पहिले कथनकी समान, जैसे एक ही काजरूप वस्तु अवच्छेद्य और अवच्छेदकरूपसे प्रतीत होता है, तैसे ही ज्ञान और आनन्द ब्रह्मके धर्म होकर भी वह धर्म ब्रह्म-रूपसे प्रतीत होते हैं ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

भगवान्‌के गुण और गुणोंमें भेद माननेका शास्त्रमें निषेध भी किया है ॥ ३० ॥

सामान्यात्तु ॥ ३१ ॥ बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३२ ॥

घटशब्दसे जैसे अनेकों घटों का बोध होता है, तैसे ही आनन्द आदि शब्दोंसे आनन्दत्व आदि जातिका बोध होकर लौकिक और अलौकिक आनन्दका बोध होने पर भी उससे सब व्यक्तियोंके सादृश्यका बोध नहीं होता है, अतः जीवज्ञानसे ब्रह्मज्ञान श्रेष्ठ है, इस उपदेशको सर्वत्र भगवत्सम्बन्धी तत्त्वज्ञानके लिए समझो ॥ ३२ ॥ ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥ उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

ब्रह्मको एकरूप होने पर स्थान, धाम और भक्ति-विशेषके कारण उनके प्रकाशमें न्यूनाधिकता होती है, इस प्रकार कर्मके अनुसार फलबोधक वाक्योंकी भी संगति होगई ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

ब्रह्मसे पर वा अपर कोई नहीं है, अतः उपास्य ब्रह्म ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥

भगवान्‌के मध्यमाकृति होने पर भी आयाम शब्द आदिसे उनके सर्वगतत्वका निश्चय होता है ॥ ३७ ॥

फलमत उपपत्तेः । ३८ । श्रुतत्वाच्च ३९

परमेश्वर ही स्वर्गादिरूप यागादिके फलका देनेवाला है, इसमें श्रुतिका प्रमाण है ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

जैमिनि कहते हैं कि—परमेश्वरसे ही धर्मकी उत्पत्ति हुई है ॥ ४० ॥

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥

कर्म किया जाता है अतः उसका क्षय अवश्य होगा, अतएव ब्रह्म ही कर्मका प्रवर्तक है, ऐसा बादरायणने कहा है ॥ ४१ ॥

॥ इति तृतीय अध्यायका द्वितीयपाद समाप्त ॥

——:*:——

* तृतीय अध्यायका तृतीयपाद *

भासयन् स्वगुणान् शुद्धान् भृत्यस्य हृदि मे प्रभुः ।
देवस्यं तन्यतनुर्मनसि ममासौ परिस्फुरतु कृष्णः ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।१।

सब वेदोंके निर्णयसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ही ब्रह्म है, क्योंकि-विधि सर्वत्र एकरूप हैं ॥ १ ॥

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

अर्थ भेद होनेसे अधिकार भेद नहीं माना जासकता क्योंकि-एक शाखामें ही ऐसा भेद अर्थ देखनेमें आता है२

स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च ॥३॥ सववच्च तन्नियमः।४। दर्शयति च ॥ ५ ॥

स्वाध्यायके तथात्व और समाचारके अधिकारसे ऐसी मीमांसा करनी चाहिये । सवोंकी समान इस नियमको समझना चाहिये,वेदमें भी ऐसे ही वाक्य देखने में आते हैं ॥ ४ ॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च

अर्थके अभेदके कारण उपासना समान होने पर भी विधि शेषकी समान उपसंहार करना चाहिये ॥ ६ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ७

'आत्माकी ही आराधना करे' इत्यादि वाक्योंसे उपसंहारमें अन्यथात्व प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्

प्रकरणका भेद होनेसे परोवरीयस्त्व आदिकी समान एकान्तभक्तके सब गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिये

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ९ ॥

संज्ञाकी एकता होनेसे सबके ही गुणोंका उपसंहार उचित है यह बात कही है ॥ ९ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ १० ॥

ब्रह्म वात्य आदि धर्मवाला होकर भी व्यापक है, अतएव सबकी संगति होती है ॥ १० ॥

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ ११ ॥

जो परमात्मा उनके परिकर अथवा उनके गुण पूर्व-कर्म वा पूर्वकालमें थे वही उत्तर कर्म या उत्तरकालमें भी रहते हैं, उनमें अभेद है ॥ ११ ॥

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥

आनन्द आदि जो प्रधान ब्रह्मके धर्म कहे हैं वह जहाँ जितने कहे हैं उतने तहाँ ही मानने चाहियें या सब सर्वत्र ? मानने तो सब धर्म सर्वत्र ही चाहिये, क्योंकि-ब्रह्मका अभेद है? इसका उत्तर अगले सूत्रमें कहते हैं १२

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

तैत्तिरीय उपनिषद्में कहे हुए प्रियशिरस्त्व आदि धर्मोंकी प्राप्ति सर्वत्र नहीं है, क्योंकि-आनन्दमय परमात्माकी पुरुषाकारता होनेसे उनमें पक्षित्व अवास्त-

विक है और तैत्तिरीय उपनिषद्में परमात्माके प्रमोद मोदरूप जो दो पक्ष कहे हैं जो आनन्दके अवयवके बोधक हैं ॥ १३ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १४ ॥

इस व्याख्याके अनन्तर और जो परब्रह्मके धर्म कहे हैं, उन सबको भी ब्रह्मकी एकताके कारण ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाला ही समझना चाहिये ॥ १४ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥

कठोपनिषद्में इन्द्रिय, अर्थ, मन आदिमें एकसे दूसरे को पर कहकर, पुरुषको सबसे पर कहा है तो क्या यह पर होनेका वर्णन, ऐसा ही माना जायगा ? तहाँ कहते हैं कि एक पुरुषके ही पर होनेसे उसके ध्यान-पूर्वक मोक्षरूप प्रयोजन सिद्ध होता है, औरोंके पर होनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥ १५ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १६ ॥

इन इन्द्रियादिका वर्णन भी पुरुषकी प्राप्तिके लिये ही है, उसहीको आत्मशब्दसे कहा है और सब अनात्मा हैं

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १७ ॥

जैसे कि—अन्यत्र आत्मशब्दसे परमात्माको ही लिया जाता है तैसे ही यहाँ भी आत्मशब्दसे विभुचेतन परमात्माका ही बोध होगा ॥ १७ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥

उपनिषद्में पहिले वाक्यमें आत्मशब्दका प्राणादि, मन और जीवमें अन्वय दिखाकर फिर अगले वाक्यमें

आत्मशब्दसे एक विभु चेतनका ही ग्रहण कैसे हो सकता है ? उसके उत्तरमें कहते हैं कि-इस बातका निश्चय होचुका है कि-सृष्टिसे पहिले एक आत्मा ही था अतः आत्मशब्दसे विभु चेतनका ही ग्रहण होगा।१८

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥

पहिले कहे हुए पूर्णानन्दता आदि और तैसे ही पितृत्व आदि सब धर्म उनके उपासकोंके चिन्तवनके निमित्त हैं ॥ १६ ॥

समान एवञ्चाभेदात् ॥ २० ॥

भगवद्विग्रहके अन्तर्गत नेत्रादि इन्द्रियोंकी परस्पर विलक्षणतासे प्रतीति होने पर भी उनको समान और अभिन्न माना जाता है ॥ २० ॥

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २१ ॥

इन सब आवेशावतारोंमें भगवान्का सम्बन्ध होने से भगवान्के आज्ञा दिए हुए कुमार आदिमें भी उन धर्मोंकी प्राप्ति मानना चाहिये ॥ २१ ॥

न वा विशेषात् २२ ॥ दर्शयति च॥२३॥

भगवदावेश होने पर भी जीवस्वरूप धर्ममें और जीवों से कोई विशेषता नहीं है यही बात श्रुति भी दिखाती है

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २४ ॥

जीवत्वके कारण सम्भृति (पूर्णता) और द्युव्याप्ति (सर्वव्यापकता) यह दो गुण आवेशावतारमें नहीं माने जाते हैं ॥ २४ ॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥

पुरुषविद्यामें ईश्वरके विषयमें जैसे सर्वभूतोपादानता और सर्वनियामकता आदि गुण कहे हैं, तैसे अन्यके विषयमें नहीं कहे ॥ २५ ॥

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २६ ॥

जीवके कष्टदायक गुण उपास्य नहीं होसकते, क्योंकि हृदयवेध आदि अर्थोंका भेद है ॥ २६ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछंदः-स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २७ ॥

पाशहानि होने पर उपायन शब्दकी शेषताके कारण कुशाछन्दस्तुतिके उपगानकी समान शास्त्रोक्त देवधर्मों का चिन्तवन कहा है ॥ २७ ॥

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये २८

भगवान्‌का प्रेम होनेसे भवपाश दूर होता है, उस समय रागवश ही चिन्तवन होता है, जिसमें तत्त्व मिलता है उसको सम्पराय कहते हैं, अतः उससे ही भगवान्‌का ज्ञान होता है, भगवद्विषयक प्रेम होनेसे ही उस का नाम साम्पराय है ॥ २८ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २९ ॥

भगवान् की इच्छासे दोनों प्रकारका विधान हुआ है

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा विरोधः ३०

दोनों प्रकारकी भक्तिसे भगवद्गतिकी प्राप्ति होती है ऐसा न माननेसे श्रुतिके साथ विरोध आता है ३१

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् १३

जो भक्त यथा रुचि मार्गसे भगवद्भजन करता है वह भक्त ही श्रेष्ठ है, क्योंकि-उस भक्तिसे स्वयं पुरुषोत्तम प्राप्त होते हैं, इस विषयमें लौकिक दृष्टान्त भी हैं ३१

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३२ ॥

ध्यान आदि अनुष्ठानसे ही मुक्ति होगी, ऐसा नियम नहीं है किंतु हरएककी भिन्न भिन्न रूपसे सावधानता देखनेमें आती है, क्योंकि-इसका श्रुतिके साथ विरोध नहीं है, ॥ ३२ ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम् ॥

ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होते ही निःसन्देह मुक्ति होती है, परन्तु अधिकारियोंकी अधिकार तक अवस्थिति भी नहीं हटाई जासकती ॥ ३३ ॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३४ ॥

अक्षर ब्रह्मसम्बन्धिनी सूक्ष्मबुद्धि आदिका संग्रह ब्रह्माराधनामें ही होता है, श्रुतिमें जिस ज्ञानसे मुक्ति कही है, उसको असाधारण भावसे ग्रहण करे साधारणभावसे नहीं ॥ ३४ ॥

इयदामननात् ॥ ३५ ॥

भगवान्के तैसे विग्रह रूपना आदि धर्मोंका अवश्य चिन्तवन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३६ ॥

भक्तोंकी दृष्टिमें परमेश्वरका अधिष्ठानभूत विग्रह प्राकृत नूतन निवास सा प्रतीत होता है, परंतु परमात्मा सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है ॥ ३६ ॥

अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशांतरवत् ॥ ३७ ॥

इसप्रकार ब्रह्म और उसके अधिष्ठानका भेद न मानने से अधिष्ठान अधिष्ठातामें कोई भेद न रहेगा, यदि ऐसा कहो तो ठीकही है, क्यों कि-अभेदवादमें ऐसा माननेसे कोई दोष नहीं आता ॥ ३७ ॥

व्यतिहारो विशिंषंति हीतरवत् । ३८ ।

परमात्मा ही आत्मलोक है और आत्मलोक ही परमात्मा है, श्रुतिमें जो ऐसा अभेद कहा है उससे ही व्यतिहार सिद्ध होता है, ॥ ३८ ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ ३९ ॥

श्रुतिमें परमेश्वरकी परा नाम्नी शक्ति कही है, उस से ही सत्यादिकी प्रतीति होती है, ३९

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ४०

यह श्रीरूपा शक्ति पराशक्ति है, वह प्रकृतिके स्पर्श न किये हुए परव्योममें स्थित है, भगवान् जब प्रपञ्चमें निजधामका प्रकाश करते हैं तब ही वह भी अपने स्वामी की कामनाके विस्तारके लिये अनुगामिनी होती है, अतः भगवान् नित्य श्रीमान् हैं ॥ ४० ॥

आदरादलोपः ॥ ४१ ॥

परमेश्वरकी इस श्रीका आदर अवश्यम्भावी होने पर भी भक्तिके लोपका सम्भव नहीं है ॥ ४१ ॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४२ ॥

शक्ति और उसके आश्रयमें भेद नहीं है, ठीक है, परन्तु शक्तिके आश्रयकी पुरुषोत्तमस्वरूपता और शक्ति की श्रेष्ठ स्त्रीस्वरूपता होनेसे कामादिका उदय सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

तन्निर्धारणानियमस्तद् दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४३ ॥

कृष्णरूपकी ही आराधना कीजाय ऐसा नियम नहीं है तीनों शक्तियोंसे युक्त परतत्व ही श्रीकृष्ण हैं, इस प्रकार भिन्न२ उपासना होने पर भी विरोध नहीं आता है

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४४ ॥

गुरुदेव प्रसन्न होकर ब्रह्म-प्राप्ति कराने वाला जो साधन देते हैं तैसा ही ब्रह्मप्राप्तिरूप फल होता है ।४४।

लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४५ ॥

शास्त्रमें गुरुप्रसादको ही बलवान् कहा है ॥ ४५ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत् ॥ ४६ ॥

यह अभेदभाव पूर्वोक्त भक्तिका ही एक भेद है, सेवा और पूजादि क्रिया तथा मानस स्मरणकी समान पूर्वोक्त भावना भक्तिका ही प्रकार है ॥ ४६ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४७ ॥

गुरुप्रसादयुक्त उपासनासे ही मुक्ति मिलती है यह बात श्रुतियोंमें बहुधा लिखी है ॥ ४७ ॥

विद्यैव तु तन्निर्धारणात् ४८ दर्शनाच्च ४९

विद्या ही मोक्षका कारण है यह बात निश्चित है और श्रुतिमें ऐसा देखनेमें आता है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ५० ॥

'विद्या ही मोक्षका कारण है' यह शास्त्र वाक्य 'कर्म-ज्ञान मुक्तिका कारण है' इस शास्त्रसे बाधित नहीं होता है ॥ ५० ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५१ ॥

महान् पुरुषोंने उसकी उपासना की है अतः उसको भी मोक्षका हेतु कहा है। शाब्दी और उपासना इस दो प्रकारके प्रज्ञाके भेदके अनुसार उपासकके प्राप्य साक्षात्कारमें भी भेद है ॥ ५१ ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ॥ ५२ ॥

साधारण दर्शनसे मुक्ति होनेकी सम्भावना नहीं है, मृत्यु होनेसे जैसे मुक्ति नहीं होती है, तैसे ही साधारण दर्शनसे भी नहीं होती है ॥ ५२ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५३ ॥

वेदमें वरणशब्दसे भगवत्साक्षात्कारका तदेक प्राप्यत्व ही बोधित होता है, उसका तात्पर्य ही भक्तिके लक्ष्य को बतानेमें है, आगेके वाक्योंमें इसी बातका उपदेश है

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५४ ॥

कोई २ शरीरमें आत्मस्वरूप विष्णुकी उपासना कहते हैं, वह कहते हैं कि-शरीरमें विष्णुकी सत्ता है ॥५४॥

व्यतिरेकस्तदभावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ॥ ५५ ॥

देह और आत्मा एक नहीं है, किन्तु आत्मा व्यतिरिक्त है, नहीं तो मरण होने पर भी शरीरमें आत्माके धर्म उपलब्ध होने चाहियें ॥ ५५ ॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्

यज्ञके अङ्गभूत कर्त्तव्योंके निमित्त यजमान अध्वर्यु आदिका वरण करता है, वह सब कार्योंमें चतुर होने पर भी अपने २ ही कार्यको करते हैं,अन्य कार्यको नहीं कर सकते हैं ॥ ५६ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५७ ॥

तिल २ प्रकारकी भक्तिको प्रवृत्त करनेके निमित्त ही मन्त्रोंकी समान विरोध नहीं है ॥ ५७ ॥

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति

सर्वत्र ही बहुत्वको मानना चाहिये, जैसे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ आरम्भसे अवभृथ स्नान तक यज्ञत्वमें श्रेष्ठ है तैसे ही ईश्वरका भूमागुण श्रेष्ठ है, ऐसा ही शास्त्रमें दिखाया है ॥ ५८ ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५९ ॥

शास्त्रोंमें अनेकों संज्ञा होनेसे भगवान्‌की उपासना भी अनेकों प्रकारकी है ॥ ५९ ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ६० ॥

फलमें भेद न होनेसे विकल्प मानना अदूषित है ६०

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न-वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६१ ॥

यश आदि फलकी इच्छासे कीहुई उपासनाको काम्य उपासना कहते हैं, कामनाके अनुसार फलका भेद होता है कामना न होनेसे किसी अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है ॥ ६१ ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६२ ॥

जिस अङ्गमें जिस गुणका आश्रय है उसी अङ्गमें उस गुणका चिन्तन करना चाहिये ॥ ६२ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६३ ॥

इन अंगोंके गुणोंका ध्यान करनेके लिये ब्रह्माजीने अपने शिष्योंको उपदेश दिया है ॥ ६३ ॥

समाहारात् ॥ ६४ ॥

एक गुणके वर्णनसे सबका वर्णन होगया ॥ ६४ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६५ ॥

नवा तत्सहभावश्रुतेः ॥ ६६ ॥

ब्रह्मके सकल अंगोंमें सब गुणोंका चिन्तवन करना

चाहिये, यदि ऐसा कहो तो इसका उत्तर यह है। कि-सब अंगोंमें सब गुणोंका चिन्तवन नहीं किया जासकता क्योंकि-जिस अंगमें जिस गुणका वर्णन है वह गुण अन्य अंगमें नहीं है, तथा इस सहभावका कोई प्रमाण भी नहीं है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६७ ॥

प्रत्युत सहभावके अभावको श्रुति दिखाती है॥६७॥

॥ इति तृतीय अध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥

——:*:——

* तृतीय अध्यायका चतुर्थपाद *

श्रद्धावेश्मन्यास्तृते सच्छमाद्येर्वैराग्योद्यद्दित्तिसिंहासनाढ्य।
धर्मप्राकाराश्चिते सर्वदात्री प्रेष्ठा विष्णोर्भाति विद्याशरीरम् ॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः १

भगवान् बादरायणने कहा है कि-विद्यासे पुरुषार्थ प्राप्त होता है ॥ १ ॥

शेषत्वात्पुरुषार्थवादोयथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

जैमिनिने कहा है कि-विद्या कर्मका ही शेष है विद्या का जो फल लिखा है वह कर्मका ही है, वह फल ही पुरुषकारका फल है, पुरुषकारसे जब सब फलोंकी उत्पत्ति है तो वह फल पुरुषार्थवाद ही है ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

विद्वान् पुरुष कर्मका आचरण करते हैं, इससे विद्या-कर्मका ही अंग है ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

उपनिषदोंमें भी यही सुननेमें आता है कि-विद्या कर्मका अंग है ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

विद्या और कर्मके साथके बिना कोई फल होता देखने में नहीं आता, अतः कर्म कर्तव्य है और विद्या उसका अङ्ग है ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

इसके द्वारा ब्रह्मज्ञानीका ब्रह्मरूपमें वरण विहित है॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

विद्वान् पुरुष जीवन भर कर्म करे, ऐसा नियम भी है

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

कर्मसे विद्या अधिक है, कर्मसाध्य होनेसे ही विद्याकी प्रधानता है, यह बादरायणका मत है ॥ ८ ॥

तुल्यन्तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

विद्याके कर्मका अङ्ग होनेके विषयमें जैसा प्रमाण है, उसके कर्मका अङ्ग न होनेके विषयमें भी वैसा ही प्रमाण मिलता है ॥ ९ ॥

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

पहिले पक्षको पुष्ट करनेवाली श्रुतिके होने पर भी वह सर्वत्र प्रवृत्त नहीं होती है ॥ १० ॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

जैसे इन दोनों को सौ देदो, ऐसा कहनेपर उनका विभाग करके पचास २ अलग २ दिएजाते हैं तैसे ही विद्याका उपदेश अन्यके और कर्मका उपदेश अन्यके लिए है ॥ ११ ॥

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

यहां ब्रह्मवित् कहनेसे केवल वेदाध्ययन करनेवालेको ही लिया जायगा ॥ १२ ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

कर्मानुष्ठानके प्रमाणमें जैसे श्रुति देखनेमें आती है, कर्मका त्याग करनेके विषयमें भी तैसे ही श्रुतिप्रमाण मिलता है ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

अथवा यावज्जीवन कर्म करनेकी आज्ञाको केवल स्तुति मानलो ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

स्मृतिके वचनानुसार जो अपनी इच्छापूर्वक, प्राणियों के अनुग्रह करनेके निमित्त जिस कर्मको करता है, उस का उसअनुष्ठानसे होनेवाले गुण दोषसे कोई सम्बन्ध नहीं हैं, ॥ १५ ॥

उपमर्दञ्च ॥ १६ ॥

स्मृति, ज्ञानरूप विद्याके द्वारा, क्या संचित क्या प्रारब्ध सब कर्मोंका क्षय होना बताती है, अतः विद्यामें अतिशयपना है ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

आश्रमधारियोंमें ऊर्ध्वरेता यतियोंको विद्याप्राप्ति होने पर यथेच्छाचारकी बात शास्त्रमें कही है अतः विद्याकी स्वतन्त्रता माननी चाहिये ॥ १७ ॥

परामर्षं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥

जैमिनि कहते हैं कि-नियमसे अपनी इच्छानुसार कर्मानुष्ठान ही स्वेच्छाचार है ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

बादरायण कहते हैं कि-विद्वान् पुरुष विहित कर्म ही अपनी इच्छानुसार करे ॥ १९ ॥

विधिर्वा धारणावत् ॥ २० ॥

तीनों वर्णोंको जैसे वेदधारणकी विधि है, तैसे ही वेदविहित विधिकी निष्ठावाले ज्ञानियोंके लिये भी समझना चाहिये ॥ २० ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥

ऐसा कहनेवाला वाक्य विधि नहीं है, किन्तु ज्ञानियोंकी स्तुतिमात्र है, ब्रह्मानुभवी ज्ञानीके निमित्त यह कामचार अपूर्व विधि है ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

उपनिषद्के वाक्यमें भाववाचक रति आदि शब्द देखनेमें आते हैं ॥ २२ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥

श्रुति वाक्योंमें कितने ही उपाख्यान वर्णित हैं उनसे ब्रह्मविद्याका ही निरूपण होता है ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

इस प्रकार वेदान्तके उपाख्यानोंमें अस्थिर अर्थ होने से, संनिहित सब विद्याओंके साथ एक रूपमें वर्णित होनेके कारण उनको इस सकल विद्याकी प्रतिपत्तिके उपयोगी कहना ठीक है ॥ २४ ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

विद्याको स्वतन्त्र कहनेसे उसके फलके विषयमें यज्ञादि क्रियाकी अपेक्षा नहीं होती है ॥ २५ ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥२६॥

विद्या फल देनेमें निरपेक्ष होने पर भी, अपनी उत्पत्ति के विषयमें यज्ञादि सब ही धर्मोंकी अपेक्षा करती है, गमनमें जैसे अश्वादिकी अपेक्षा देखनेमें आती है, विद्या की निष्पत्तिके विषयमें भी वैसा ही समझना चाहिये२६

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधे-स्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥२७॥

यज्ञादिके द्वारा विशुद्ध हुए पुरुषको विद्याका संभव होने पर भी शम दम आदिकी आवश्यकता है, क्योंकि वह भी विद्याका अंग है ॥ २७ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्॥

यह अनुज्ञाविधि नहीं है' क्योंकि-अन्न न मिलने

पर प्राणान्तके अवसरमें सर्वान्नसेवनकी आज्ञाका सूचक वाक्य देखनेमें आता है ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥२९॥ अपि च स्मर्यते ॥३०॥

आपत्कालमें सब प्रकारका भोजन करना ज्ञानीके लिये दूषित नहीं है, निर्मल चित्त पुरुषको किसी भी कार्यमें बाधा नहीं है, स्मृतियोंमें भी ऐसा कहा है ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामचारे ॥ ३१ ॥

आपत्कालमें जब सर्वान्न भोजनका उपदेश है, तब आपत्काल न होने पर विद्वान्‌को अकामचारमें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ ३१ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

विद्याको पढ़ानेके निमित्त विद्वान्‌को भी कर्मका विधान है, विद्या पालेने वालोंको भी अपने वर्णाश्रमके निमित्त विहित कर्मानुष्ठान करना चाहिये ॥ ३२ ॥

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

इन सब कर्मोंका विद्याके सहकारीरूपसे अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३३ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिंगात् ॥ ३४ ॥

अपने धर्मके प्रेमको छोड़कर निरन्तर भगवद्धर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये, श्रुति स्मृति दोनोंमें ऐसा ही उपदेश है ॥ ३४ ॥

अनभिभवञ्च दर्शयति ॥ ३५ ॥

।निष्ठावान् पुरुषकी भगवत्कथा श्रवण आदिके अनुरोधसे अपने आश्रम धर्मके न करनेके कारण जो दोष

होता है उससे उसका अभिभव नहीं होता है ॥३५॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

आश्रमधर्म न होने पर भी स्वयं विरक्त पुरुषके पूर्व जन्ममें अर्जन किये हुए धर्म और सत्य जप आदिके द्वारा परिशुद्ध होनेसे विद्याका उदय होता है ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

स्मृतिमें सम्वर्त्तादिकोंका आश्रमधर्मकी अपेक्षा न करने पर भी महायोगी होना सुननेमें आता है ॥३७॥

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

उन निरपेक्ष अधिकारियोंको साधुसङ्गसे भगवत्कृपा और विद्याका लाभ प्रकाशित है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

स्वस्थ पुरुषको किसी आश्रममें रहना चाहिये, इस कारण तथा शीघ्र ही विद्या प्राप्तिका कारण होनेसे आश्रमका गौरव है, इसमें श्रुति-स्मृतिका प्रमाण है ३९

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

ऊर्ध्वरेताको आश्रम स्वीकार करने चाहिये, किसी प्रकार उनसे डिगना नहीं चाहिये, क्योंकि-ऐसा होने के निमित्त नियम है, यह बात जैमिनि और बादरायण दोनोंकी सम्मति है ॥ ४० ॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारीका यदि वीर्यपात होजाय तो उसका प्रायश्चित्त भी नहीं है, किन्तु उसको सूल २ कर प्राण देदेना चाहिये, हाँ जो गृहस्थाश्रममें जाना चाहता हो उसका वीर्यपात होने पर प्रायश्चित्त कहा है ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥

किन्हीका यह मत है कि-ब्रह्मचारीके भोजनका नियम है और यदि वह मधुमांस सेवन करे तो उसका प्रायश्चित्त कहा है, तैसे ही यदि नैष्ठिकका गुरुशय्यासे अन्यत्र वीर्यपात हुआ हो तो वह प्रायश्चित्तके योग्य उपपातक है ॥ ४२ ॥

बहिस्तूभयथा स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वरेताओंका अपने आश्रमसे अधःपात उपपातक हो चाहे महापातक हो दोनों दशामें शिष्ट उनको बाहर करदें, इसमें स्मृतिका प्रमाण और शिष्टोंका आचार देखनेमें आता है ॥ ४३ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥

आत्रेय ऋषि कहते हैं कि-उपासनाके कर्म यजमानके हैं ऐसा शास्त्रमें सुना है ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॥ ४५ ॥

औडुलोमि ऋषि कहते हैं कि-ऋत्विक्के हैं, क्योंकि यजमान उनके लिये ही ऋत्विक्का वरण करता है ४५

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

ऋत्विक्के किये कर्मोंका फल यजमानको प्राप्त होना है इसमें श्रुतिका प्रमाण भी है ॥ ४६ ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

शम आदि मुनित्व विद्याका सहकारी है अपूर्व होनेके कारण आश्रमधारियोंके लिये ही उसकी विधि है ४७

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥

गृहस्थधर्ममें समस्त भाव है, अतएव उसमें उपसंहार किया गया है ॥ ४८ ॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥

मुनित्वकी समान और आश्रमोंका भी उपदेश है ४६

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

विद्याका गुरुभावसे ही उपदेश करे, चाहे जिसको न देय श्रुतिमें ऐसा ही कहा है। इस सूत्रका यह अर्थ भी है कि-अधिकारश्रुतिमें बाल्य शब्दसे लौकिक बालकपन नहीं लेना चाहिये किन्तु जो बालककी समान औरोंके समक्ष अपने स्वरूपको प्रकट करना नहीं चाहते उनका भाव लेना चाहिये, श्रुतिमें उसीका अन्वय संगत होता है ॥ ५० ॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥

वेद कहता है कि-प्रतिबन्ध न होनेसे इस जन्ममें ही विद्याकी प्राप्ति होसकती है ॥ ५१ ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृते-
स्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

विद्यारूपी साधनयुक्त मुमुक्षुको विद्यारूप फलकी प्राप्ति इस जन्ममें होगी वा परजन्ममें होगी, इसका कोई नियम नहीं है, प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है उसके विषयमें देहका पतन होने वा न होनेका नियम नहीं है ॥ ५२ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

——:*:——

* चतुर्थ अध्यायका प्रथमपाद *

दत्वा दिव्यौषधिं भक्तान्निरवद्यान् करोति यः ।
तत्कृपार्थं भजतु श्रीमान् प्रीत्यात्मा स हरिः स्वयम् ॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

इस अध्यायमें विद्याके फलका विचार होगा-श्रवण मनन आदि एक ही वार करना चाहिये वा वार २, इस के उत्तरमें कहते हैं कि वार २ करना चाहिये श्रुतिमें ऐसा ही कहा है ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

इस विषयमें महात्माओंका आचरणरूप दृष्टान्त भी है

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ३

आत्मा ही परमेश्वर है, ऐसा समझ कर उपासना करनी चाहिये, ऐसा ही करके जाबालोंने परमेश्वरको पाया है तथा श्रुतियें भी ऐसा ही उपदेश करती हैं ।३।

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

मन आदि इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धि नहीं करना चाहिये क्योंकि--इन्द्रियें आत्मा वा ईश्वर नहीं होसकतीं ॥४॥

ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

ईश्वरमें आत्मदृष्टिकी समान ब्रह्मदृष्टिकी नित्य-कर्त्तव्यता है क्योंकि--वह अनन्तकल्याणगुणसम्पन्न है५

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

भगवान्के नेत्रादि अंगोंकी सूर्यादिजनकताका भी चिन्तवन करना चाहिये क्योंकि-ऐसा करनेसे उत्कर्ष होता है ॥ ६ ॥

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

स्मरणमें आसनकी उपयोगिता भी देखनेमें आती है क्योंकि-आसनके विना चित्तकी एकाग्रता नहीं होसकती

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

ध्यानकी भी आवश्यकता है, आसन लगा कर ही ध्यान करे ॥ ८ ॥

अचलत्वञ्चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अचञ्चल होकर आसन पर स्थित होय ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

स्मृतिमें भी आसनको उपासनाका अंग कहा है १०

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

जहाँ चित्तकी एकाग्रता होसके, वह स्थल ही उपासना के योग्य है, इसका और कोई विशेष नियम नहीं है ११

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

मोक्ष होने पर्यन्त उपासना करनी चाहिए, ऐसा शास्त्रोपदेश है ॥ १२ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोः श्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

ब्रह्मविद्याके प्रभावसे क्रियमाण पापका अस्पर्श और सञ्चित पापका नाश होता है, ऐसा शास्त्रमें कहा है १३

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पापकी समान पुण्यका भी विद्याके प्रभावसे अस्पर्श और क्षय समझना, ऐसेका शरीरपात होने पर अवश्य मुक्ति होती है ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।१५।

अर्जित पाप पुण्य दो प्रकारके हैं-आरब्धफल और अनारब्ध फल, विद्यासे इन दोनोंका क्षय होजाता है, आरब्धकार्यका नाश नहीं होता है, क्योंकि-ईश्वरकी इच्छाको ही प्रारब्धनाशकी अवधि कहा है ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्

विद्याके उदयसे पहिले किए हुए अग्निहोत्रादि कर्म विद्याको उत्पन्न करके ही निवृत्त होजाते हैं ॥ १६ ॥

अतोऽन्यानि ह्येकेषामुभयोः । १७ ।

ब्रह्मैकरत किसी २ परमातुर निरपेक्ष भक्तके प्रारब्ध पाप पुण्य भोगके बिना ही लीन होजाते हैं ॥ १७ ॥

यदेव विद्ययेति हि । १८ ।

विद्या स्वतन्त्र है, विद्या प्रारब्धरूपारूप विधिके वशीभूत नहीं होसकती, जो विद्यासे किया जाता है वह अतिवीर्यवान् होता है ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते १६

आरब्ध कार्यरूप पुण्य पापको भोगसे क्षीणकरके जीव ब्रह्मस्वरूपको ही प्राप्त होजाता है ॥ १६ ॥

॥ इति चतुर्थ अध्यायका प्रथमपाद समाप्त ॥

——:*:——

* चतुर्थ अध्यायका द्वितीयपाद *

मन्त्राद्यस्य पराभूतः पराभूताद्यो ग्रहाः ।
नश्यन्ति स्वलमत्तृणाः सः कृष्णः शरणं मम ॥

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च १

विद्वानोंके शरीरसे उत्क्रमणकी रीति कहते हैं, यदि कहो कि—वाक्यवृत्तिके द्वारा मन सम्पन्न होता है या स्वरूपसे? तो इसका उत्तर यह है कि—वाक् आदि स्वरूप से ही मनमें निष्पन्न होते हैं, क्योंकि—वाक् आदिकी उपरति होने पर भी मनकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है

अत एव च सर्वाण्यनु २

मनमें ही वाक्यका लय होता है, अग्निमें नहीं, अतः वाक्सम्पत्तिके अनन्तर ही श्रोत्र आदिका लय मानना होगा । २ ।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

सब इन्द्रियों सहित मन प्राणमें ही संपन्न होता है ३

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

देह इन्द्रियादिके अधिष्ठाता जीवमें प्राणका लय होता है, अन्तकालमें ऐसे ही सब प्राण जीवमें सम्पन्न हुआ करते हैं ॥ ४ ॥

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

प्राणसंयुक्त जीव तेजके सहचारी सूक्ष्मभूतोंमें स्थिर रहता है ॥ ५ ॥

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

अन्य शरीरको पानेकी इच्छाके समय जीव एक तेज में ही स्थिर नहीं होता है, क्योंकि—शरीररूपी कार्य अनेकात्मक दीखता है, उपनिषद्मेंके प्रश्नोत्तर यही दिखाते हैं ॥ ६ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य

नाड़ी प्रवेशसे पहिले अज्ञ और विज्ञ दोनोंकी ही उत्क्रान्ति एकसमान होती है, नाड़ी—प्रवेशके समय ही भेद देखनेमें आता है, अज्ञ पुरुष एकसौ नाड़ीके द्वारा गमन करता है परन्तु विज्ञ एकसौसे अन्य एक मूर्द्धा की नाड़ीके द्वारा गमन करते हैं ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

जिसका देह-सम्बन्ध नष्ट नहीं होता है उस विज्ञका पापनाशित्व ही अमृतत्व है, क्योंकि-ब्रह्मसाक्षात्पर्यन्त ही देहका सम्बन्धरूप संसार कहा है ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

विद्वान्‌का देहसम्बन्ध इस ब्रह्माण्डमें भस्म नहीं होता है क्योंकि-स्वर्गादि ब्रह्माण्डान्तर्गत चाहे तिस लोकमें गति हो सूक्ष्मशरीर अनुवर्त्तन नहीं करता है ९

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

इसप्रकार सूक्ष्म होनेसे स्थूलशरीरका दाह आदिसे नाश होने पर सूक्ष्मशरीरको कुछ बाधा नहीं पहुँचती है॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

मरणसे पहिले स्पर्श करने पर जो स्थूलशरीरमें गर्मी का अनुभव होता है उसको सूक्ष्मशरीरकी ही समझना चाहिये ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

श्रुतिमें निषेध होनेसे विद्वान्‌के प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-वह निषेध जीवसे है, देहसे प्राणोंके उत्क्रमणका निषेध नहीं है

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥ स्मर्यते च ॥ १४ ॥

श्रुतिकी एक शाखामें जब शारीर जीवसे प्राणोंके उत्क्रमणका स्पष्ट निषेध किया है, तब प्राणोंके जीवका अनुगामी होनेमें कोई विरोध नहीं है, स्मृतिमें भी ऐसा ही लिखा है ॥ १४ ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥

वाक् आदि इन्द्रियें, प्राण और सकल भूत सर्वात्म-स्वरूप परब्रह्ममें ही लीन होते हैं ॥ १५ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

कहा है कि-चित्शक्तिसम्पन्न परमात्माके साथ प्राण का अविभाग सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकतया ॥ १७ ॥

जिनके हृदयमें आत्मप्रकाश होगया है वह विद्वान् शतनाडीसे ऊपर सूर्यकी किरणोंसे एकाकार हुई सुषुम्ना के द्वारा गमन करते हैं, सूक्ष्मताके कारण इस नाडीका विवेचन विद्वान् भी नहीं करसकता, ऐसा कहना असंगत है, क्योंकि-ज्ञानीजन विद्याशक्तिके प्रभावसे भगवान्का अनुग्रह होने पर उसका दर्शन पाते हैं ॥ १७ ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

विद्वान्की गति रश्मिके अनुसार होती है ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

रातमें मरण होने पर सूर्यकी किरणोंके न होनेसे उनके अनुसार गति कैसे होसकती है ? इस शङ्काका उत्तर यह है कि-जब तक शरीर है तब तक सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध भी है ॥ १९ ॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

इसी कारण दक्षिणायनमें प्राणान्त होने पर भी विद्वान् विद्याके फलको पाता है ॥ २० ॥

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्त्ते चैते ॥ २१ ॥

स्मृतिमें भी लिखा है कि-विद्वान् (योगी) के लिये समयका नियम नहीं है, वह हर समय विद्याका फल पावेगा ॥ २१ ॥

॥ इति चतुर्थ अध्यायका द्वितीयपाद समाप्त ॥

——:*:——

* चतुर्थ अध्यायका तृतीयपाद *

य: स्वप्राप्तिपथं देव: सेवनाभासतोदिशत् ।
प्राप्यश्च स्वपदं प्रेयान् ममासौ श्यामसुन्दर: ॥

अर्चिरादिना तत्प्रथिते: ॥ १ ॥

योगीमात्र अर्चिरादि मार्गका आश्रय करके ब्रह्मलोकमें जाते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

पहिले कहे अर्चिरादि वाक्यमें सम्बन्धके अनन्तर आदित्यसे पहिले वायु शब्द प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

तडितोऽधि वरुण: सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

चन्द्रमाके अनन्तर जो तडित् कही है, उसके अनन्तर वरुण शब्द निविष्ट होता है, क्योंकि-तड़ित् और वरुणका सम्बन्ध है ॥ ३ ॥

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ॥ ४ ॥

भगवान्ने अपने भक्तोंको आतिवाहिक कर्ममें लाने के निमित्त अर्चिरादिको नियुक्त किया है इसके प्रमाण हैं

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धे: ॥ ५ ॥

यदि अर्चिरादि अचेतन हैं तो यह मार्ग और उनके मन्त्र दोनों अज्ञ हैं फिर अर्चिरादि मार्ग पहुँचा कैसे सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि उनके अधिष्ठातृ देवता चेतन पहुँचाते हैं, वह नहीं ॥ ५ ॥

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

विद्युल्लोकसे ऊपर दिव्य पुरुष ही ले जासकते हैं, क्योंकि-विद्युल्लोक पर्यन्त ही आगमन श्रुति बताती है

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

बादरि ऋषि कहते हैं, कि-ब्रह्मपुरमें गमन कहनेसे चतुरानन ब्रह्माका लोक समझना होगा क्योंकि-अपरिच्छिन्न परब्रह्मधाममें गमन असम्भव है ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

विशेषकर उपनिषदोंमें भी ऐसा ही कहा है ॥ ८ ॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

ब्रह्मलोकगत जीवकी जो अपुनरावृत्तिकी बात देखने में आती है और ब्रह्मसामीप्य भी सुननेमें आता है,सो इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि-किन्हीं मनोमयादि विकारधर्मोंके कारण उसका उपासनाके निमित्त उपदेश है ॥ ९ ॥

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात ॥ १० ॥ स्मृतेश्च ॥

चतुरानन ब्रह्माके लोकपर्यन्त प्रलयमें मग्न होजाने पर यह सकल पुरुष अध्यक्ष हिरण्यगर्भके साथ परिशुद्ध परमपदको प्राप्त होते हैं, स्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् १२ दर्शनाच्च १३

परब्रह्ममें ही ब्रह्मशब्दकी मुख्य व्युत्पत्ति होनेके कारण ब्रह्मलोकगमन कहनेसे ब्रह्मपदप्राप्ति समझनी होगी, जैमिनिका यह मत है और शास्त्रमें भी अनेकों स्थानमें ऐसा देखनेमें आता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः १४

कार्यब्रह्मके विषयमें योगीकी इच्छा वा ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि–वह परम पुरुषार्थ नहीं है ॥ १४ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॥१५॥

नाम आदिकी उपासना करनेवाला प्रतीकाश्रय पुरुष, और ब्रह्मनिष्ठ आदि अप्रतीकाश्रय ब्रह्मोपासक पुरुष, इन दोनोंकी ही परब्रह्ममें गति है, बादरायणके इस मतमें कर्मोपासक और परोपासककी गतिमें भेद नहीं है, क्योंकि–दोनों मतमें परस्पर विरोध नहीं है ॥ १५ ॥

विशेषञ्च दर्शयति ॥ १६ ॥

ब्रह्मज्ञानियोंकी आतिवाहिक देवताओंके साथ जो परमपदकी प्राप्ति कही है उसको सामान्यविधि मानना होगा, जो निरपेक्ष भक्त हैं और भगवद्विरहसे व्याकुल रहते हैं, उनको अपना पद देनेमें विलम्बको न सहकर स्वयं प्रभु उनको अपने धाममें प्राप्त कर लेते हैं, यही विशेष नियम है ॥ १६ ॥

॥ इति चतुर्थ अध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥

——:*:——

* चतुर्थ अध्यायका चतुर्थपाद *

अकैतवे भक्तिसवेऽनुरज्जयन् स्वमेव यः सेवकसात्करोति ।
ततोऽतिमोदं मुदितः स देवः सदा चिदानन्दतनुर्धिनोतु ॥

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

ज्ञान वैराग्य सम्पन्न, भक्तियोगसे परज्योतिःस्वरूपताको प्राप्त जीवकी, कर्मबन्धनसे मुक्त, अष्टगुणसंयुक्त स्वरूपोदयस्वरूप अवस्था—भेदका नाम स्वरूपाविर्भाव है, क्योंकि स्वेन शब्दसे कहा है ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

स्वरूपसम्पन्न जीव ही मुक्त कहाता है, क्योंकि—प्रजापतिके वाक्यमें ऐसी ही प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

प्रकरणवश ज्योतिःशब्दसे आत्माका ही ग्रहण होता है

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

परमज्योतिःस्वरूपको प्राप्त होने पर जिसका स्वरूपाविर्भाव होता है वह परमात्माके साथ अविभक्त होकर रहता है, क्योंकि—वेदमें ऐसा ही वर्णन है ॥ ४ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

ब्रह्मभावसे सम्पन्न जीव पापरहितता और सत्यसंकल्पता पर्यन्त गुणोंसे सम्पन्न होकर प्रकाशित होता है, क्योंकि—ईश्वरके गुण मुक्त जीवमें उपन्यस्त हैं, जैमिनिका यही मत है ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

ब्रह्मचिन्तवनसे अविद्यारहित हुआ पुरुष चिद्रूप ब्रह्म-सम्पन्न होकर चिन्मात्रस्वरूपसे ही प्रकाशित होता है, यह औडुलोमिका मत है ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

बादरायण कहते हैं कि-पहिले कहे अनुसार जीव की चिन्मात्रस्वरूपताका वर्णन होने पर भी उनके सत्य-संकल्पता आदि अष्टगुण सम्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं है ॥ ७ ॥

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

मुक्त जीवके संकल्पमात्रसे ही पितर उपस्थित होते हैं इसमें श्रुतिका प्रमाण है ॥ ८ ॥

अतएव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

सत्यसंकल्प होनेसे मुक्तपुरुषका अन्य अधिपति नहीं होता है, अतएव विधि-निषेधके बाहर होजाता है ॥ ९ ॥

अभावंबादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

बिना मनके संकल्प नहीं होसकता अतः संदेह होता है कि-प्राप्तैश्वर्यके इन्द्रियादि होते हैं या नहीं ? इस विषयमें बादरि मुनिका यह मत है कि-महीयमान योगी के शरीरेन्द्रियादि नहीं होते हैं, यही शास्त्रमें कहा है १७

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

विना शरीरके अनेकों प्रकारका नहीं बनसकता, अतः मुक्त पुरुषके शरीर है, ऐसा जैमिनि मुनिका मत है ११

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥

सत्यसंकल्प होनेके कारण अशरीर और सशरीर दोनों प्रकारका द्वादशाह सत्रकी समान बादरायण मानते हैं १२

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

जब इन्द्रियसहित शरीरका अभाव है तब यथास्थान में उपलब्धिमात्र पितर आदिकी कामना होती है॥१३॥

भावे जाग्रद्वत् ॥

और जब शरीरयुक्त माना जायगा तब मुक्त पुरुषका भोग जाग्रत् अवस्थाकी समान स्थूल होगा ॥ १४ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥

जैसे एक दीपक विकारशक्तिसे अनेकों दीपक बन जाता है, ऐसे एक ही योगी ऐश्वर्यके योगसे अनेकरूप होकर अनेकों शरीरोंमें प्रवेश करता है, यही शास्त्र दिखाता है ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि

श्रुतिमें सुषुप्ति और उत्क्रान्तिके समय ही जीवके विशेषज्ञानका निषेध किया है, मुक्तावस्थाके विषयमें कुछ नहीं कहा है ॥ १६ ॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वात्

श्रुतियोंके प्रकरण और अर्थ विचारके द्वारा प्रतीत होता है कि-सकल जड़ चेतन सृष्टि स्थिति नियमरूप

जगत् व्यापार ब्रह्मका कार्य है, इनके सिवाय अन्य सकल कर्मोंमें, मुक्तजीवकी सामर्थ्य है ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

श्रुतिमें मुक्त जीवका जगद्व्यापारसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध कहा है, अतः उसका जगद्व्यापारसे पृथक्त्व कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-चतुराननादि आधिकारिकमण्डलरूप सकल लोक और उन २ लोकोंके सकल भोग ईश्वर कृपासे ही मुक्त जीवको सिद्ध होजाते हैं ॥ १८ ॥

विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह १९

मुक्त पुरुषमें प्रपञ्चके जन्म आदि विकार नहीं होते हैं

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

परमज्योतिःस्वरूपका विकाररहित होना प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध होता है ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

मुक्त जीवका भोगमात्र अनादि सिद्ध ईश्वरके समान है ॥ २१ ॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् २२

जो अर्चिरादि पर्व और देवयान मार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं वह तहाँसे फिर इस संसारमें नहीं आते हैं

समुद्धृत्य यो दुःखपंकात्स्वभक्तान्नयत्यच्युतश्चिरसुखे धाम्नि नित्ये ।
प्रियान् गाढरागात्तिलार्द्धं विमोक्तुं न चेच्छत्यसावेव सुह्रन्निषेव्यः ॥

॥ सानुवाद वेदान्तदर्शन समाप्त ॥

——:०:——